IJAER/March-April 2019/Volume-7/Issue-5 ISSN: 2278-9677
International Journal of Arts & Education Research

ब्रिटिश काल में भारत की अर्थव्यवस्था पर प्रभाव एक अध्ययन

सुनिता फुलवारिया
सहायक आचार्य इतिहास

हरिदेव जोशी
राजकीय कन्या महाविद्यालय, बांसवाड़ा।

भारतीय अर्थव्यवस्था की वर्तमान संरचना के सूत्र इतिहास में बहुत गहरे है।भारत 15 अगस्त 1947 को स्वतंत्रा प्राप्ति के पूर्व दो सौ वर्षों तक ब्रिटिश शासन के अधीन था।भारत में ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन का मुख्य उद्देश्य इंग्लैंड में तेजी से विससित हो रहे औद्योगिक आधार के लिए भारतीय अर्थव्यवस्था को केवल एक कच्चा प्रदायक तक ही सीमित रखना था.ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन की स्थापना से पूर्व भारतीय अर्थव्यवस्था स्वतंत्र थी। कृषि जनसामान्य की आजीविका और सरकार की आय का मुख्य स्रोत था,फिर भी विनिर्माण गतिविधियाँ भी जारी थी।सूती व रेशमी वस्त्रों,धातु आधारित तथा बहुमूल्य मणि-रत्न आदि से जुड़ी शिल्पकलाओं के उत्कृष्ट केन्द्र के रूप में भारत विश्व भर में सुविख्यात हो चुका था।भारत में निर्मित इन वस्तुओं का विश्व के बाजोरों में अच्छी सामग्री के प्रयोग तथा उच्च स्तर की कलात्मकता के आधार पर काफी प्रतिष्ठा प्राप्त था। ढाका के मलमल ने उत्कृष्ट कोटि के सूती वस्त्र के रूप में विश्व भर में ख्याति अर्जित की थी। शाही मलमल 17 वीं शताब्दी में भारत आए फ्रांसीसी यात्री फ्रांस्वा बर्नीयर के अनुसार उस समय का बंगाल मिश्र से अधिक समृद्ध था ।यहां से सूती रेशमी वस्त्र,चावल ,शक्कर और मक्खन का प्रचुर मात्रा में निर्यात होता था।बहुत प्राचीन काल से भारतवर्ष का विदेशों से व्यापार हुआ करता था। यह व्यापार स्थल मार्ग और जल मार्ग दोनों से होता था। इन मार्गों पर एकाधिकार प्राप्त करने के लिए विविध राष्ट्रों में समय-समय पर संघर्ष हुआ करता था। जब इस्लाम का उदय हुआ और अरब, फारस मिस्र और मध्य एशिया के विविध देशों में इस्लाम का प्रसार हुआ, तब धीरे-धीरे इन मार्गों पर मुसलमानों का अधिकार हो गया और भारत का व्यापार अरब निवासियों के हाथ में चला गया। अफ्रीका के पूर्वी किनारे से लेकर चीन समुद्र तक समुद्र तट पर अरब व्यापारियों की कोठियां स्थापित हो गईं। यूरोप में भारत का जो माल जाता था वह इटली के दो नगर जिनोआ और वेनिस से जाता था। ये नगर भारतीय व्यापार से मालामाल हो गए।वे भारत का माल कुस्तुन्तुनिया की मंडी में खरीदते थे। इन नगरों की धन समृद्धि को देखकर यूरोप के अन्य राष्ट्रों को भारतीय व्यापार से लाभ उठाने की प्रबल इच्छा उत्पन्न इस इच्छा की पूर्ति में सफल न हो सके। बहुत प्राचीन काल से यूरोप के लोगों का अनुमान था कि अफ्रीका होकर भारतवर्ष तक समुद्र द्वारा पहुंचने का कोई न कोई मार्ग अवश्य है। चौदहवीं शताब्दी में यूरोप में एक नए युग का प्रारंभ हुआ।[1,2]

नए-नए भौगोलिक प्रदेशों की खोज आरंभ हुई। कोलम्बस ने सन् 1492 ईस्वी में अमेरिका का पता लगाया और यह प्रमाणित कर दिया कि अटलांटिक के उस पार भी भूमि है। पुर्तगाल की ओर से बहुत दिनों से भारतवर्ष के आने के मार्ग का पता लगाया जा रहा था। अंत में, अनेक वर्षों के प्रयास के अनंतर सन् 1498 ई. में वास्कोडिगामा शुभाशा अंतरीप (cape of good hope) को पार कर अफ्रीका के पूर्वी किनारे पर आया; और वहाँ से एक गुजराती नियामक को लेकर मालाबार में कालीकट पहुंचा।पुर्तगालवासियों ने धीरे-धीरे पूर्वी व्यापार को अरब के व्यापारियों से छीन लिया। इस व्यापार से पुर्तगाल की बहुत श्री-वृद्धि हुई। देखा -देखी, डच अंग्रेज और फ्रांसीसियों ने भी भारत से व्यापार करना शुरू किया। इन विदेशी व्यापारियों में भारत के लिए आपस में प्रतिद्वंद्विता चलती थी और इनमें से हर एक का यह इरादा था कि दूसरों को हटाकर अपना अक्षुण्य अधिकार स्थापित करें। व्यापार की रक्षा तथा वृद्धि के लिए इनको यह आवश्यक प्रतीत हुआ कि अपनी राजनीतिक सत्ता

कायम करें। यह संघर्ष बहुत दिनों तक चलता रहा और अंग्रेजों ने अपने प्रतिद्वंद्वियों पर विजय प्राप्त की और सन् 1763 के बाद से उनका कोई प्रबल प्रतिद्वंदी नहीं रह गया। इस बीच में अंग्रेजों ने कुछ प्रदेश भी हस्तगत कर लिए थे और बंगाल, बिहार उड़ीसा और कर्नाटक में जो नवाब राज्य करते थे वे अंग्रेजों के हाथ की कठपुतली थे। उन पर यह बात अच्छी तरह जाहिर हो गई थी कि अंग्रेजों ने कुछ प्रदेश भी हस्तगत कर लिए थे और बंगाल, बिहार उड़ीसा और कर्नाटक में जो नवाब राज्य करते थे वे अंग्रेजों के हाथ की कठपुतली थे। उन पर यह बात अच्छी तरह जाहिर हो गई थी कि अंग्रेजों का विरोध करने से पदच्युत कर दिए जाएंगे।यह विदेशी व्यापारी भारत से मसाला, मोती, जवाहरात, हाथी दांत की बनी चीजें, ढाके की मलमल और आबेरवां, मुर्शीदाबाद का रेशम, लखनऊ की छींट, अहमदाबाद के दुपट्टे, नील आदि पदार्थ ले जाया करते थे और वहां से शीशे का सामान, मखमल साटन और लोहे के औजार भारतवर्ष में बेचने के लिए लाते थे। हमें इस ऐतिहासिक तथ्य को नहीं भूलना चाहिए कि भारत में ब्रिटिश सत्ता का आरंभ एक व्यापारिक कंपनी की स्थापना से हुआ। अंग्रेजों की राजनीतिक महत्वाकांक्षा तथा चेष्टा भी इसी व्यापार की रक्षा और वृद्धि के लिए हुई थी।[3,4]

उन्नीसवीं शताब्दी के पहले इंग्लैंड का भारत पर बहुत कम अधिकार था और पश्चिमी सभ्यता तथा संस्थाओं का प्रभाव यहां नहीं के बराबर था। सन् 1750 से पूर्व इंग्लैंड में औद्योगिक क्रांति भी नहीं आरंभ हुई थी। उसके पहले भारत वर्ष की तरह इंग्लैंड भी एक कृषिप्रधान देश था। उस समय इंग्लैंड को आज की तरह अपने माल के लिए विदेशों में बाजार की खोज नहीं करनी पड़ती थी। उस समय गमनागमन की सुविधाएं न होने के कारण सिर्फ हल्की-हल्की चीजें ही बाहर भेजी जा सकती थीं। भारतवर्ष से जो व्यापार उस समय विदेशों से होता था, उससे भारत को कोई आर्थिक क्षति भी नहीं थी। सन् 1765 में जब ईस्ट इंडिया कंपनी को मुगल बादशाह शाह आलम से बंगाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानी प्राप्त हुई, तब से वह इन प्रांतों में जमीन का बंदोबस्त और मालगुजारी वसूल करने लगी। इस प्रकार सबसे पहले अंग्रेजों ने यहां की मालगुजारी की प्रथा में हेर-फेर किया। इसको उस समय पत्र व्यवहार की भाषा फारसी थी। कंपनी के नौकर देशी राजाओं से फारसी में ही पत्र व्यवहार करते थे।फौजदारी अदालतों में काजी और मौलवी मुसलमानी कानून के अनुसार अपने निर्णय देते थे। दीवानी की अदालतों में धर्म शास्त्र और शहर अनुसार पंडितों और मौलवियों की सलाह से अंग्रेज कलेक्टर मुकदमों का फैसला करते थे। जब ईस्ट इंडिया कंपनी ने शिक्षा पर कुछ व्यय करने का निश्चय किया, तो उनका पहला निर्णय अरबी, फारसी और संस्कृत शिक्षा के पक्ष में ही हुआ। बनारस में संस्कृत कालेज और कलकत्ते में कलकत्ता मदरसा की स्थापना की गई। पंडितों और मौलवियों को पुरस्कार देकर प्राचीन पुस्तकों के मुद्रित कराने और नवीन पुस्तकों के लिखने का आयोजन किया गया। उस समय ईसाइयों को कंपनी के राज में अपने धर्म के प्रचार करने किया गया। उस समय ईसाइयों को कंपनी के राज में अपने धर्म के प्रचार करने की स्वतंत्रता नहीं प्राप्त थी।

बिना कंपनी से लाइसेंस प्राप्त किए कोई अंग्रेज न भारतवर्ष में आकर बस सकता था और न जायदाद खरीद सकता था। कंपनी के अफसरों का कहना था कि यदि यहां अंग्रेजों को बसने की आम इजाजत दे दी जाएगी तो उससे विद्रोह की आशंका है; क्योंकि विदेशियों के भारतीय धर्म और रस्म-रिवाज से भली -भांति परिचित न होने के कारण इस बात का बहुत भय है कि वे भारतीयों के भावों का उचित आदर न करेंगे। देशकी पुरानी प्रथा के अनुसार कंपनी अपने राज्य के हिंदू और मुसलमान धर्म स्थानों का प्रबंध और निरीक्षण करती थी। मंदिर, मस्जिद, इमामबाड़े और खानकाह के आय-व्यय का हिसाब रखना, इमारतों की मरम्मत कराना और पूजा का प्रबंध, यह सब कंपनी के जिम्मे था। अठारहवीं शताब्दी के अंत से इंग्लैंड के पादरियों ने इस व्यवस्था का विरोध करना शुरू किया। उनका कहना था कि ईसाई होने के नाते कंपनी विधर्मियों के धर्म स्थानों का प्रबंध अपने हाथ में नहीं ले सकती।वे इस बात की भी कोशिश कर रहे थे कि ईसाई धर्म के प्रचार में कंपनी की ओर से कोई बाधा नहीं होनी चाहिए। उस समय देशी ईसाइयों की अवस्था बहुत शोचनीय थी। यदि कोई हिंदू या मुसलमान ईसाई हो जाता था तो उसका अपनी जायदाद और बीवी एवं बच्चों पर कोई हक नहीं रह जाता था। मद्रास के अहाते में देशी ईसाइयों को बड़ी-बड़ी नौकरियां नहीं मिल सकती थीं। इनको भी हिंदुओं के धार्मिक कृत्यों के लिए टैक्स देना पड़ता था।

जगन्नाथ जी का रथ खींचने के लिए रथ यात्रा के अवसर पर जो लोग बेगार में पकड़े जाते थे उनमें कभी-कभी ईसाई भी होते थे। यदि वे इस बेगार से इनकार करते थे तो उनको बेंत लगाए जाते थे। इंग्लैंड के पादरियों का कहना था कि ईसाइयों को उनके धार्मिक विश्वास के प्रतिकूल किसी काम के करने के लिए विवश नहीं करना चाहिए और यदि उनके साथ कोई रियायत नहीं की जा सकती तो कम से कम उनके साथ वहीं व्यवहार होना चाहिए जो अन्य धर्मावलंबियों के साथ होता है। धीरे-धीरे इस दल का प्रभाव बढ़ने लगा और अंत में ईसाई पादरियों की मांग को बहुत कुछ अंश में पूरा करना पड़ा। उसके फलस्वरूप अपनी जायदाद से हाथ नहीं धोना पड़ेगा।[5]

ईसाइयों को धर्म प्रचार की भी स्वतंत्रता मिल गई। अब राज दरबार की भाषा अंग्रेजी हो गई और अंग्रेजी शिक्षा को प्रोत्साहन देने का निश्चय हुआ। धर्म-शास्त्र और शरह का अंग्रेजी में अनुवाद किया गया और एक 'ला कमीश' नियुक्त कर एक नया दंड़ विधान और अन्य नए कानून तैयार किए गए। सन् 1853 ई. में धर्म स्थानों का प्रबंध स्थानीय समितियां बनाकर उनके सुपुर्द कर दिया गया। सन् 1854 में अदालतों में जो थोड़े बहुत पंडित और मौलवी बच गए थे वे भी हटा दिए गए। इस प्रकार देश की पुरानी संस्थाएं नष्ट हो गईं और हिंदू और मुसलमानों की यह धारणा होने लगी कि अंग्रेज उन्हें ईसाई बनाना चाहते हैं। इन्हीं परिवर्तनों का और डलहौजी की हड़पने की नीति का यह फल हुआ कि सन् 1857 में एक बड़ी क्रांति हुई जिसे सिपाही विद्रोह कहते हैं।

सन् 1857 के पहले ही यूरोप में औद्योगिक क्रांति हो चुकी थी। इस क्रांति में इंग्लैंड सबका अगुआ था; क्योंकि उसको बहुत-सी ऐसी सुविधाएं थीं जो अन्य देशों को प्राप्त नहीं थी। इंग्लैंड ने ही वाष्प यंत्र का आविष्कार किया। भारत के व्यापार से इंग्लैंड की पूंजी बहुत बढ़ गई थी। उसके पास लोहे और कोयले की इफरात थी। कुशल कारीगरों की भी कमी न थी। इस नानाविध कारणों से इंग्लैंड इस क्रांति में अग्रणी बना। इंग्लैंड के उत्तरी हिस्से में जहां लोहा तथा कोयला निकलता था वहां कल कारखाने स्थापित होने लगे। कारखानों के पास शहर बसने लगे। इंग्लैंड के घरेलू उद्योग-धंधे नष्ट हो गए। मशीनों से बड़े पैमाने पर माल तैयार होने लगा। इस माल की खपत यूरोप के अन्य देशों में होने लगी। देखा-देखी यूरोप के अन्य देशों में भी मशीन के युग का आरंभ हुआ। ज्यों-ज्यों यूरोप के अन्य देशों में नई प्रथा के अनुसार उद्योग व्यवसाय की वृद्धि होने लगी, त्यों-त्यों इंग्लैंड को अपने माल के लिए यूरोप के बाहर बाजार तलाश करने की आवश्यकता प्रतीत होने लगी। भारतवर्ष इंग्लैंड के अधीन था, इसलिए राजनीतिक शक्ति के सहारे भारतवर्ष को सुगमता के साथ अंग्रेजी माल का एक अच्छा-खासा बाजार बना दिया गया।[6,7]

अंग्रेजी शिक्षा के कारण धीरे-धीरे लोगों की अभिरुचि बदल रही थी। यूरोपीय वेशभूषा और यूरोपीय रहन-सहन अंग्रेजी शिक्षित वर्ग को प्रलोभित करने लगा। भारत एक सभ्य देश था, इसलिए यहां अंग्रेजी माल की खपत में वह कठिनाई नहीं प्रतीत हुई जो अफ्रीका के असभ्य या अर्द्धसभ्य प्रदेशों में अनुभूत हुई थी। सबसे पहले इस नवीन नीति का प्रभाव भारत के वस्त्र व्यापार पर पड़ा। मशीन से तैयार किए हुए माल का मुकाबला करना करघों पर तैयार किए हुए माल के लिए असंभव था। धीरे-धीरे भारत की विविध कलाएं और उद्योग नष्ट होने लगे। भारत के भीतरी प्रदेशों में दूर-दूर माल पहुंचाने के लिए जगह-जगह रेल की सड़कें निकाली गईं। भारत के प्रधान बंदरगाह कलकत्ता, बंबई और मद्रास भारत के बड़े-बड़े नगरों से संबद्ध कर दिए गए विदेशी व्यापार की सुविधा की दृष्टि से डलहौजी के समय में पहली रेल की सड़कें बनी थीं। इंगलैंड को भारत के कच्चे माल की आवश्यकता थी। जो कच्चा माल इन बंदरगाहों को रवाना किया जाता था, उस पर रेल का महसूल रियायती था। आंतरिक व्यापार की वृद्धि की सर्वथा उपेक्षा की जाती थी।[8]

पारंपरिक अर्थव्यवस्था का विघटन:

अंग्रेजों द्वारा अपनाई जाने वाली आर्थिक नीतियों ने भारत की अर्थव्यवस्था का औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था में तेजी से परिवर्तन किया, जिसकी प्रकृति और संरचना ब्रिटिश अर्थव्यवस्था की जरूरतों के अनुसार निर्धारित की गई थी। इस संबंध में भारत की ब्रिटिश विजय पिछले सभी विदेशी विजय से भिन्न थी।पिछले विजेताओं ने भारतीय राजनीतिक शक्तियों को उखाड़ फेंका था, लेकिन देश की आर्थिक संरचना में कोई बुनियादी बदलाव नहीं किया था; वे धीरे-धीरे भारतीय जीवन का हिस्सा बन गए थे, राजनीतिक और साथ ही आर्थिक। किसान, कारीगर और व्यापारी पहले की तरह ही अस्तित्व का नेतृत्व करते रहे।

आत्मनिर्भर ग्रामीण अर्थव्यवस्था का मूल आर्थिक प्रतिमान नष्ट हो चुका था। शासकों के परिवर्तन का अर्थ केवल उन लोगों के कार्मिकों में परिवर्तन था जिन्होंने किसानों के अधिशेष को विनियोजित किया था। लेकिन ब्रिटिश विजेता पूरी तरह से अलग थे। उन्होंने भारतीय अर्थव्यवस्था की पारंपरिक संरचना को पूरी तरह से बाधित कर दिया।

इसके अलावा, वे कभी भी भारतीय जीवन का अभिन्न अंग नहीं बने। वे हमेशा भूमि में विदेशी बने रहे, भारतीय संसाधनों का दोहन किया और भारत की संपत्ति को श्रद्धांजलि के रूप में ले गए। ब्रिटिश व्यापार और उद्योग के हितों के लिए भारतीय अर्थव्यवस्था के इस अधीनता के परिणाम कई और विविध थे।[7]

औपनिवेशिक शासन के दौरान निम्न-स्तरीय आर्थिक विकास

ब्रिटिश अर्थशास्त्री एंगस मैडिसन के अनुसार, विश्व अर्थव्यवस्था अर्थात् वैश्विक सकल घरेलू उत्पादन(GDPमें भारत की हिस्सेदारी 1700 में 24.4% से घटकर 1950 में 4.2% हो गई। भारत की जीडीपी (पीपीपी) प्रति व्यक्ति मुगल साम्राज्य के दौरान स्थिर रही और ब्रिटिश शासन की शुरुआत से पहले ही गिरावट शुरू हो गई।

वैश्विक औद्योगिक उत्पादन में भारत की हिस्सेदारी 1750 में 25% से घटकर 1900 में 2% हो गई।इसी समय, विश्व अर्थव्यवस्था में यूनाइटेड किंगडम का हिस्सा 1700 में 2.9% से बढ़कर 1870 में 9% हो गया, और ब्रिटेन ने भारत को 19 वीं शताब्दी में दुनिया के सबसे बड़े कपड़ा निर्माता के रूप में प्रतिस्थापित किया।

भारतीय अर्थव्यवस्था जनसंख्या वृद्धि के अनुरूप 1890 से 1910 तक प्रति वर्ष लगभग 1% बढ़ी,औपनिवेशिक शासकों ने कभी भी भारत की राष्ट्रीय तथा प्रतिव्यक्ति आय का आकलन करने का ईमानदारी से प्रयास नहीं किया।फिर भी देश की राष्ट्रीय तथा प्रति व्यक्ति आय का आकलन निजी स्तर पर दादा भाई नौरोजी,विलियम डिग्बी,फिंडले शिराज,डॉ वी.के. आर .वी.राव तथा आर.सी. देसाई ने किया।इनमें डॉ राव द्वारा लगाए गए अनुमान बहुत महत्वपूर्ण माने जाते हैं। इनके अनुसार बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में भारत की राष्ट्रीय आय की वार्षिक वृद्धि दर 2% से कम तथा प्रति व्यक्ति उत्पाद वृद्धि दर मात्र आधा प्रतिशत ही रही है।

देश की राष्ट्रीय तथा प्रति व्यक्ति आय का आकलन निजी स्तर पर दादा भाई नौरोजी विलियम डिग्री हिंदले सिराज डॉक्टर वीके आरवी राव तथा आरसी देसाई 1820 में भारत की जीडीपी विश्व का कुल 16% थी, 1870 तक यह गिरकर 12% हो गई और 1947 तक 4% तक गिर गई थी। भारत की प्रति व्यक्ति आय ब्रिटिश राज के दौरान अधिकांशतः स्थिर रही, इसकी अधिकांश जीडीपी वृद्धि का विस्तार आबादी से हुआ। 1850 से 1947 तक भारत की प्रति व्यक्ति जीडीपी 16% से थोड़ी ही बढ़ी,जो 533$(डॉलर) से बढ़कर 618$ हुई।(1990 के अंतर्राष्ट्रीय डॉलर में।)[6]

कारीगरों और कारीगरों की बर्बादी:

शहरी हस्तशिल्प उद्योग का अचानक और त्वरित पतन हुआ जिसने सदियों तक भारत का नाम पूरी सभ्य दुनिया के बाजारों में एक साथ रखा। यह पतन ब्रिटेन से सस्ती आयातित मशीन से निर्मित सामानों के साथ प्रतिस्पर्धा के कारण हुआ।

हम जानते हैं कि अंग्रेजों ने 1813 के बाद भारत पर एक तरह से मुक्त व्यापार की नीति लागू की और ब्रिटिश सूदखोरों के आक्रमण, विशेष रूप से सूती वस्त्रों का तुरंत पालन किया। आदिम तकनीकों से बना भारतीय सामान शक्तिशाली भाप से संचालित मशीनों द्वारा बड़े पैमाने पर उत्पादित वस्तुओं के साथ प्रतिस्पर्धा नहीं कर सकता था।

रेलवे बनने के बाद भारतीय उद्योगों, विशेषकर ग्रामीण कारीगरों के उद्योगों की बर्बादी और भी तेजी से बढ़ी। रेलवे ने ब्रिटिश मैन्युफैक्चरर्स को देश के दूरस्थ गांवों में पारंपरिक उद्योगों तक पहुंचने और उखाड़ने में सक्षम बनाया। अमेरिकी लेखक के रूप में, डीएच बुकानन ने इसे रखा है, "अलग-थलग आत्मनिर्भर गाँव का कवच स्टील रेल द्वारा छेदा गया था, और उसके जीवन का रक्त बह गया।"

कपास की बुनाई और कताई उद्योगों को सबसे ज्यादा नुकसान हुआ। रेशम और ऊनी वस्त्रों का कोई बेहतर प्रदर्शन नहीं हुआ और एक समान भाग्य ने लोहे, मिट्टी के बर्तनों, कांच, कागज, धातुओं, बंदूकों, शिपिंग, तेल-दबाव, टैनिंग और रंगाई उद्योगों को पीछे छोड़ दिया।[5]

विदेशी वस्तुओं की आमद के अलावा, ब्रिटिश विजय से उत्पन्न कुछ अन्य कारकों ने भी भारतीय उद्योगों को बर्बाद करने में योगदान दिया। अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध के दौरान ईस्ट इंडिया कंपनी और उसके नौकरों द्वारा बंगाल के कारीगरों पर किए गए अत्याचार ने उन्हें बाजार मूल्य से नीचे अपना माल बेचने और प्रचलित मजदूरी के नीचे अपनी सेवाएं देने के लिए मजबूर किया, बड़ी संख्या में मजबूर किया। उन्हें अपने पैतृक व्यवसायों को छोड़ने के लिए। सामान्य तौर पर, भारतीय हस्तशिल्प को कंपनी द्वारा उनके निर्यात को दिए गए प्रोत्साहन से लाभ हुआ होगा, लेकिन इस उत्पीड़न का विपरीत प्रभाव पड़ा।

अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी के दौरान ब्रिटेन और यूरोप में भारतीय वस्तुओं के आयात पर लगाए गए उच्च आयात कर्तव्यों और अन्य प्रतिबंधों ने 1820 के बाद ब्रिटेन में भारतीय निर्माताओं को यूरोपीय बाजारों के आभासी समापन के लिए प्रेरित किया।

भारतीय शासकों और उनके न्यायालयों का क्रमिक रूप से गायब होना, जो उत्पादित हस्तशिल्प के मुख्य ग्राहक थे, ने भी इन उद्योगों को एक बड़ा झटका दिया। "उदाहरण के लिए, भारतीय राज्य पूरी तरह से सैन्य हथियारों के उत्पादन में अंग्रेजों पर निर्भर थे।"

ब्रिटिशों ने अपने सभी सैन्य और अन्य सरकारी स्टोर ब्रिटेन में खरीदे। इसके अलावा, भारतीय शासकों और रईसों को ब्रिटिश अधिकारियों और सैन्य अधिकारियों द्वारा शासक वर्ग के रूप में प्रतिस्थापित किया गया था जिन्होंने अपने स्वयं के घरेलू उत्पादों को लगभग विशेष रूप से संरक्षण दिया था। इससे हस्तशिल्प की लागत में वृद्धि हुई और विदेशी वस्तुओं के साथ प्रतिस्पर्धा करने की उनकी क्षमता कम हो गई।भारतीय हस्तशिल्पों की बर्बादी कस्बों और शहरों के खंडहर में परिलक्षित हुई जो उनके निर्माण के लिए प्रसिद्ध थे। युद्ध और लूटपाट की घटनाओं को झेलने वाले शहर ब्रिटिश विजय से बचने में विफल रहे। ढाका, सूरत, मुर्शिदाबाद और कई अन्य आबादी वाले और फलते-फूलते औद्योगिक केंद्रों को बंद कर दिया गया और कचरे को रख दिया गया।उन्नीसवीं सदी के अंत तक, शहरी आबादी कुल आबादी का मुश्किल से 10 प्रतिशत थी।[4]

विलियम बेंटिक, गवर्नर जनरल, 1834-5 में रिपोर्ट किया गया:

“दुख शायद ही कभी वाणिज्य के इतिहास में एक समानांतर पाता है। सूती-बुनकरों की हड्डियां भारत के मैदानी इलाकों में ब्लीच कर रही हैं। ”त्रासदी इस तथ्य से बढ़ गई थी कि पारंपरिक उद्योगों का क्षय आधुनिक मशीन उद्योगों के विकास के साथ नहीं था जैसा कि ब्रिटेन और पश्चिमी यूरोप में हुआ था। नतीजतन, बर्बाद हस्तशिल्प और कारीगर वैकल्पिक रोजगार खोजने में विफल रहे। उनके लिए एकमात्र विकल्प कृषि में भीड़ लगाना था।इसके अलावा, ब्रिटिश शासन ने गांवों में आर्थिक जीवन के संतुलन को भी बिगाड़ दिया। ग्रामीण शिल्प के क्रमिक विनाश ने ग्रामीण इलाकों में कृषि और घरेलू उद्योग के बीच के संबंध को तोड़ दिया और इस तरह ग्रामीण अर्थव्यवस्था को नष्ट करने में योगदान दिया।एक ओर, लाखों किसान, जिन्होंने अंशकालिक कताई और बुनाई द्वारा अपनी आय को पूरक किया था, अब खेती पर अत्यधिक भरोसा करना था; दूसरी ओर, लाखों ग्रामीण कारीगरों ने अपनी पारंपरिक आजीविका खो दी और छोटे भूखंडों को धारण करने वाले कृषि मजदूर या छोटे किरायेदार बन गए। उन्होंने भूमि पर सामान्य दबाव को जोड़ा।

इस प्रकार ब्रिटिश विजय ने देश के डी-औद्योगीकरण का नेतृत्व किया और कृषि पर लोगों की निर्भरता बढ़ गई। पहले की अवधि के लिए कोई आंकड़े उपलब्ध नहीं हैं, लेकिन जनगणना रिपोर्ट के अनुसार, 1901 और 1941 के बीच अकेले कृषि पर निर्भर जनसंख्या का प्रतिशत 63.7 प्रतिशत से बढ़कर 70 प्रतिशत हो गया।कृषि पर यह बढ़ता दबाव ब्रिटिश शासन के तहत भारत में अत्यधिक गरीबी का एक प्रमुख कारण था।वास्तव में, भारत अब ब्रिटेन के निर्माण का एक कृषि उपनिवेश बन गया, जिसे अपने उद्योगों के लिए कच्चे माल के स्रोत के रूप में इसकी आवश्यकता थी। सूती कपड़ा उद्योग की तुलना में कहीं अधिक परिवर्तन नहीं हुआ। जबकि भारत सदियों से दुनिया में कपास के सामान का सबसे बड़ा निर्यातक था, अब यह ब्रिटिश कपास उत्पादों के आयातक और कच्चे कपास के निर्यातक में बदल गया था।

कृषि क्षेत्रक

औपनिवेशिक शासन से पूर्व भारत मूलत: कृषि अर्थव्यवस्था हीं बना रहा। उस समय भारत की 80% जनसंख्या गाँवों में बसी थी जो प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से कृषि के माध्यम से अपनी रोजी-रोटी कमा रही थी।अंग्रेजों के भू-राजस्व निर्धारण और संग्रहण के नये तरीके ने यहां के परंपरागत कृषि ढांचे को नष्ट कर दिया।

कृषि क्षेत्र की गतिहीनता का मुख्य कारण औपनिवेशिक शासन द्वारा लागू की गई भूव्यवस्था प्रणाली थी।1757 के प्लासी के युद्ध के पश्चात् बंगाल की दीवानी प्राप्त करने के बाद कंपनी के गवर्नर-जनरल वारेन हेस्टिंग्स ने 1772 में बंगाल में द्वैध शासन व्यवस्था को समाप्त कर फार्मिंग सिस्टम (इजारेदारी प्रथा) की शुरुआत भू-राजस्व की वसूली के लिए की।फार्मिंग सिस्टम के अंतर्गत कंपनी किसी क्षेत्र या जिले के भू-क्षेत्र से राजस्व वसूली की जिम्मेदारी उसे सौंपती थी, जो सबसे अधिक बोली लगाता था।

प्रौद्योगिकी का निम्न स्तर,सिंचाई सुविधाओं का अभाव और उर्वरकों का नगण्य प्रयोग भी कृषि उत्पादकता के स्तर को बहुत निम्न रखने के लिए उत्तरदीयी था। कृषि के व्यवसायीकरण के कारण नकदी फसलों की उत्पादकता के प्रमाण भी मिले हैं मिलते हैं। परंतु उसका लाभांश किसानों को नहीं मिलता था।उन्हें तो खाद्दान्न की खेती के स्थान पर नकदी फसलों का उत्पादन करना पड़ता था,जिनका प्रयोग अंतत:इंग्लैंड में लगे कारखानों में किया जाता था।सिंचाई व्यवस्था में कुछ सुधार के बावजूद भारत बाढ़ नियंत्रण एवं भूमि की उपजाऊ शक्ति के मामले में पिछड़ा हुआ था।काश्तकारों के एक बड़े वर्ग तथा छोटे किसानों के पास कृषि क्षेत्र में निवेश करने के लिए न ही संसाधन थे न तकनीक और न हीं कोई प्रेरणा।ब्रिटिश शासन के तहत किसान भी प्रगतिशील रूप से गरीब था। यद्यपि वह अब आंतरिक युद्धों से मुक्त था, उसकी भौतिक स्थिति बिगड़ गई और वह लगातार गरीबी में डूब गया।बंगाल में ब्रिटिश शासन की शुरुआत में, क्लाइव और वॉरेन हेस्टिंग्स की सबसे बड़ी भूमि राजस्व निकालने की नीति ने इतनी तबाही मचाई थी कि यहां तक कि कॉर्नवॉलिस ने भी शिकायत की थी कि बंगाल का एक तिहाई हिस्सा जंगली जानवरों द्वारा बसाया गया था। जानवरों "।न ही बाद में सुधार हुआ। स्थायी रूप से और अस्थाई रूप से बसे जमींदारी क्षेत्रों में, किसानों के बहुत सारे हिस्से अविश्वसनीय थे। उन्हें उन जमींदारों के रहमों पर छोड़ दिया गया, जिन्होंने असहनीय सीमा तक किराए बढ़ाए, उन्हें अवैध बकाया भुगतान करने के लिए मजबूर किया और जबरन श्रम या भिखारी का प्रदर्शन किया और उन्हें विभिन्न अन्य तरीकों से उत्पीड़ित किया।[3]

रयोतवारी और महलवारी क्षेत्रों में काश्तकारों की स्थिति बेहतर नहीं थी। यहाँ सरकार ने ज़मींदारों की जगह ली और अत्यधिक भू-राजस्व वसूल किया जो कि शुरुआत में उपज के एक-तिहाई से एक-तिहाई के बराबर था।भूमि का भारी मूल्यांकन उन्नीसवीं सदी में गरीबी के बढ़ने और कृषि के बिगड़ने का एक मुख्य कारण था। कई समकालीन लेखकों और अधिकारियों ने इस तथ्य को नोट किया। उदाहरण के लिए, बिशप हेबर ने 1826 में लिखा था:

न तो मूल निवासी और न ही यूरोपीय कृषक, मुझे लगता है, कराधान की वर्तमान दर पर पनप सकता है। मिट्टी की कुल उपज का आधा हिस्सा सरकार द्वारा मांग की जाती है। … हिंदुस्तान [उत्तरी भारत] में मुझे राजा के अधिकारियों के बीच एक सामान्य अनुभूति मिली ... कि कंपनी के प्रांतों में किसान मूल निवासियों के विषयों की तुलना में पूरे बदतर, गरीब और अधिक विवादित हैं; और यहां मद्रास में, जहां मिट्टी है, आम तौर पर बोल, गरीब, अंतर अभी भी अधिक चिह्नित होने के लिए

कहा जाता है। तथ्य यह है कि कोई भी मूल निवासी राजकुमार उस किराए की मांग नहीं करता है जो हम करते हैं।भले ही साल-दर-साल भू-राजस्व की मांग बढ़ती रही - यह रुपये से बढ़ा। 15.3 करोड़ 1857-58 में रु। 1936-37 में 35.8 करोड़- भूमि राजस्व के रूप में ली गई कुल उपज के अनुपात में गिरावट आई, विशेषकर बीसवीं शताब्दी में जैसे-जैसे कीमतें बढ़ीं और उत्पादन में वृद्धि हुई।भू-राजस्व में कोई आनुपातिक वृद्धि नहीं की गई, क्योंकि जबरन राजस्व की मांग के विनाशकारी परिणाम स्पष्ट हो गए। लेकिन अब तक कृषि पर जनसंख्या का दबाव इस हद तक बढ़ गया था कि बाद के वर्षों की कम राजस्व मांग किसानों पर भारी पड़ गई क्योंकि कंपनी के प्रशासन के पहले के वर्षों की उच्च राजस्व मांग थी।इसके अलावा, बीसवीं शताब्दी तक, कृषि अर्थव्यवस्था बर्बाद हो गई थी और जमींदारों, साहूकारों और व्यापारियों ने गांव में गहरी पैठ बना ली थी। उच्च राजस्व मांग की बुराई को बदतर बना दिया गया क्योंकि किसान को अपने श्रम के लिए थोड़ा आर्थिक रिटर्न मिला। सरकार ने कृषि को बेहतर बनाने पर बहुत कम खर्च किया।इसने ब्रिटिश-भारतीय प्रशासन की जरूरतों को पूरा करने, इंग्लैंड को प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से श्रद्धांजलि देने और ब्रिटिश व्यापार और उद्योग के हितों की सेवा करने के लिए अपनी पूरी आय को समर्पित कर दिया। यहां तक कि कानून और व्यवस्था का रखरखाव भी किसान के बजाय व्यापारी और साहूकार को फायदा पहुंचाता है।अत्यधिक भूमि राजस्व मांग के हानिकारक प्रभावों को इसके संग्रह के कठोर तरीके से और अधिक बढ़ाया गया। भू-राजस्व को निश्चित तिथियों पर तुरंत भुगतान करना पड़ता था, भले ही फसल सामान्य से कम हो या पूरी तरह से विफल रही हो। लेकिन बुरे वर्षों में किसान को राजस्व मांग को पूरा करना मुश्किल हो गया, भले ही वह अच्छे वर्षों में ऐसा करने में सक्षम हो।[2]

जब भी किसान भू-राजस्व का भुगतान करने में विफल रहा, सरकार ने राजस्व की बकाया राशि एकत्र करने के लिए अपनी जमीन बिक्री पर लगा दी। लेकिन ज्यादातर मामलों में किसान ने खुद ही यह कदम उठाया और सरकारी मांग को पूरा करने के लिए अपनी जमीन का कुछ हिस्सा बेच दिया। किसी भी स्थिति में वह अपनी जमीन खो देता है।अधिक बार राजस्व का भुगतान करने में असमर्थता किसान को साहूकार से उच्च ब्याज दर पर पैसा उधार लेने के लिए प्रेरित करती है। उसने अपनी जमीन को साहूकार या अमीर किसान के पड़ोसी को गिरवी रख कर कर्ज में डूब जाना पसंद किया। जब भी उसे दोनों सिरों को पूरा करना असंभव लगता, उसे साहूकार के पास जाने के लिए मजबूर किया जाता था।लेकिन एक बार कर्ज में डूबने के बाद उसका बाहर निकलना मुश्किल हो गया। साहूकार ने ब्याज की उच्च दरों का आरोप लगाया और चालाक और धोखेबाज उपायों के माध्यम से, जैसे कि झूठे लेखांकन, जाली हस्ताक्षर और उसने बड़ी मात्रा में उधार लेने वाले के लिए देनदार चिन्ह बना दिया, किसान को उसकी जमीन के साथ भाग लेने तक किसान को ऋण में गहरा और गहरा मिला।साहूकार को नई कानूनी प्रणाली और नई राजस्व नीति से बहुत मदद मिली। पूर्व-ब्रिटिश काल में, साहूकार गाँव समुदाय के अधीनस्थ था। वह गाँव के बाकी लोगों द्वारा पूरी तरह से नापसंद किए जाने का व्यवहार नहीं कर सकता था। मिसाल के तौर पर, वह हमसे ब्याज की दरें नहीं वसूल सकता।

वास्तव में, ब्याज की दरें उपयोग और सार्वजनिक राय द्वारा तय की गई थीं। इसके अलावा, वह देनदार की जमीन को जब्त नहीं कर सका; वह अधिक से अधिक ऋणी के व्यक्तिगत प्रभाव जैसे कि आभूषण, या उसकी खड़ी फसल के हिस्से को अपने कब्जे में ले सकता था। भूमि की हस्तांतरणीयता शुरू करने से ब्रिटिश राजस्व प्रणाली ने साहूकार या अमीर किसान को जमीन पर कब्जा करने में सक्षम बनाया।यहां तक कि अंग्रेजों द्वारा अपनी कानूनी प्रणाली और पुलिस द्वारा स्थापित शांति और सुरक्षा का लाभ मुख्य रूप से साहूकार को मिलता था, जिसके हाथ में कानून भारी शक्ति रखता था; उन्होंने मुकदमे की महंगी प्रक्रिया को अपने पक्ष में मोड़ने के लिए और पुलिस को अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए पर्स की शक्ति का इस्तेमाल किया।[1]

इसके अलावा, साक्षर और चतुर साहूकार किसान की अज्ञानता और अशिक्षा का फायदा उठाकर अनुकूल न्यायिक निर्णय प्राप्त करने के लिए कानून की जटिल प्रक्रियाओं को मोड़ सकता है।

धीरे-धीरे रयोतवारी और महलवारी क्षेत्रों में खेती करने वाले कर्ज में डूब गए और अधिक से अधिक भूमि साहूकारों, व्यापारियों, अमीर किसानों और अन्य धनवान वर्गों के हाथों में चली गई। इस प्रक्रिया को ज़मींदारी क्षेत्रों में दोहराया गया था जहाँ किरायेदारों ने अपने किरायेदारी के अधिकार खो दिए थे और उन्हें ज़मीन से बेदखल कर दिया गया था या साहूकार के

मातहत बन गए थे।काल और अकाल के समय खेती करने वालों से भूमि के हस्तांतरण की प्रक्रिया तेज हो गई थी। भारतीय किसान के पास शायद ही कभी महत्वपूर्ण समय के लिए कोई बचत थी और जब भी फसलें विफल हुईं, वह साहूकार पर न केवल भू-राजस्व का भुगतान करने के लिए बल्कि अपने और अपने परिवार को खिलाने के लिए वापस आ गया।उन्नीसवीं सदी के अंत तक, साहूकार ग्रामीण इलाकों का एक बड़ा अभिशाप बन गया था और ग्रामीण लोगों की बढ़ती गरीबी का एक महत्वपूर्ण कारण था। 1911 में कुल ग्रामीण कर्ज 300 करोड़ रुपये आंका गया था। 1937 तक यह 1800 करोड़ रुपये था। पूरी प्रक्रिया एक दुष्चक्र बन गई।कराधान और बढ़ती गरीबी के दबाव ने किसानों को कर्ज में धकेल दिया, जिससे उनकी गरीबी बढ़ गई। वास्तव में, खेती करने वाले अक्सर यह समझने में असफल रहे कि साहूकार साम्राज्यवादी शोषण के तंत्र में एक अपरिहार्य दलदल था और उसने अपने क्रोध को उसके खिलाफ कर दिया क्योंकि वह उनकी दुर्बलता का दृश्य कारण था।उदाहरण के लिए, 1857 के विद्रोह के दौरान, जहाँ भी किसान विद्रोह में उठे, अक्सर हमले का पहला निशाना साहूकार और उनकी खाता-बही थी। इस तरह की किसान कार्रवाइयां जल्द ही एक सामान्य घटना बन गई।कृषि के बढ़ते व्यावसायीकरण ने साहूकार-सह-व्यापारी को खेती करने वाले का शोषण करने में भी मदद की। गरीब किसान को फसल के बाद अपनी उपज बेचने के लिए मजबूर किया गया था और सरकार, जमींदार और साहूकार की माँगों को पूरा करने के लिए उसे जो भी कीमत मिल सकती थी।

इसने उसे अनाज व्यापारी की दया पर रखा, जो शर्तों को निर्धारित करने की स्थिति में था और जिसने अपनी उपज बाजार मूल्य से बहुत कम पर खरीदी थी। इस प्रकार कृषि उत्पादों में बढ़ते व्यापार के लाभ का एक बड़ा हिस्सा व्यापारी द्वारा छीन लिया गया, जो बहुत बार गाँव के साहूकार थे।डी-औद्योगिकीकरण और आधुनिक उद्योग की कमी के कारण भूमि के नुकसान और अतिवृद्धि ने भूमिहीन किसानों और बर्बाद कारीगरों और हस्तशिल्पियों को साहूकारों और ज़मींदारों के किरायेदारों या भुखमरी मजदूरी पर खेतिहर मजदूरों या ज़मीनदारों के भुगतान के लिए मजबूर कर दिया।इस प्रकार सरकार, जमींदार या जमींदार, और साहूकार के ट्रिपल बोझ के तहत किसान को कुचल दिया गया।इन तीनों ने अपना हिस्सा ले लिया था, इसके बाद खेती करने वाले और उसके परिवार के लिए बहुत कुछ नहीं बचा था। यह गणना की गई है कि 1950-51 में भूमि किराया और साहूकारों का ब्याज 1400 करोड़ रुपये था या वर्ष के लिए कुल कृषि उपज के एक तिहाई के बराबर था।इसका परिणाम यह हुआ कि अकाल की घटनाओं में वृद्धि के साथ-साथ किसानों की दुर्दशा भी जारी रही। जब भी सूखे या बाढ़ की वजह से लाखों लोग मारे गए, तब फसलों और फसलों की विफलता हुई।कृषि में भीड़भाड़ के परिणामस्वरूप, अत्यधिक भूमि राजस्व की मांग, जमींदारवाद की वृद्धि, ऋणग्रस्तता बढ़ रही है और खेती करने वालों के बढ़ते प्रभाव के कारण, भारतीय कृषि स्थिर होने लगी और यहां तक कि खराब हो गई, जिसके परिणामस्वरूप प्रति एकड़ बेहद कम उपज हुई। 1901 और 1939 के बीच कुल कृषि उत्पादन में 14 प्रतिशत की गिरावट आई।[2]

कृषि में अधिक भीड़ और सबइंफुडेशन में वृद्धि के कारण उपखंड और छोटे जोतों में भूमि का विखंडन हुआ, जिससे अधिकांश लोग अपने खेती को बनाए नहीं रख सके। किसानों की भारी बहुमत की अत्यधिक गरीबी ने उन्हें बिना किसी संसाधन के छोड़ दिया, जिससे वे बेहतर मवेशियों और बीजों, अधिक खाद और उर्वरकों का उपयोग करके कृषि में सुधार कर सकें और उत्पादन की बेहतर तकनीकों को अपना सकें।

न ही खेती करने वाले, सरकार और जमींदार दोनों के द्वारा किराए पर लिया गया, ऐसा करने के लिए कोई प्रोत्साहन है। आखिरकार, वह जिस जमीन पर खेती करता था, वह शायद ही कभी उसकी संपत्ति थी और लाभ का बड़ा हिस्सा, जो कृषि सुधार लाएगा, अनुपस्थित जमींदारों और साहूकारों के गिरोह द्वारा वसूल किए जाने की संभावना थी। उपखंड और भूमि के विखंडन ने भी सुधार को प्रभावित करना मुश्किल बना दिया।

इंग्लैंड और अन्य यूरोपीय देशों में, अमीर जमींदारों ने अपनी उत्पादकता बढ़ाने के लिए अक्सर अपनी भूमि में पूंजी का निवेश किया और बढ़ी हुई आय में साझा करने के लिए अपनी उत्पादकता को बढ़ाया। लेकिन भारत में अनुपस्थित जमींदारों, दोनों पुराने और नए, ने कोई उपयोगी कार्य नहीं किया।वे केवल किराए पर लेने वाले थे जिनकी अक्सर जमीन में कोई जड़ नहीं थी और जिन्होंने किराया जमा करने से परे इसमें कोई व्यक्तिगत रुचि नहीं ली थी। उन्होंने यह संभव पाया और इसलिए अपनी भूमि में उत्पादक निवेश करने के बजाय अपने किरायेदारों को निचोड़ कर अपनी आय में वृद्धि करना पसंद किया।

सरकार कृषि में सुधार और आधुनिकीकरण में मदद कर सकती थी। लेकिन सरकार ने ऐसी किसी भी जिम्मेदारी को मान्यता देने से इनकार कर दिया। ब्रिटिश भारत की वित्तीय प्रणाली की एक विशेषता यह थी कि, जबकि कराधान का मुख्य बोझ किसान के कंधों पर पड़ता था, सरकार ने उस पर केवल बहुत कम हिस्सा खर्च किया।किसान और कृषि की इस उपेक्षा का एक उदाहरण सार्वजनिक कार्यों और कृषि सुधारों के लिए सौतेला व्यवहार था।[3]

जबकि भारत सरकार ने 1905 से 360 करोड़ रुपये रेलवे द्वारा खर्च किए गए थे, जो ब्रिटिश व्यापारिक हितों की मांग थी, उसने उसी अवधि में सिंचाई पर 50 करोड़ रुपये से कम खर्च किया, जिससे लाखों भारतीय कृषक लाभान्वित हुए। फिर भी, सिंचाई ही एकमात्र ऐसा क्षेत्र था जिसमें सरकार ने कुछ कदम आगे बढ़ाया।

ऐसे समय में जब पूरी दुनिया में कृषि का आधुनिकीकरण और क्रांति हो रही थी, भारतीय कृषि तकनीकी रूप से स्थिर थी; शायद ही किसी आधुनिक मशीनरी का इस्तेमाल किया गया हो। इससे भी बुरी बात यह थी कि साधारण औजार भी सदियों पुराने थे। उदाहरण के लिए, 1951 में, केवल 930,000 लोहे के हल थे, जबकि लकड़ी की जुताई 31.8 मिलियन थी।

अकार्बनिक उर्वरकों का उपयोग लगभग अज्ञात था, जबकि पशु खाद का एक बड़ा हिस्सा, यानी गाय-गोबर, रात-मिट्टी और मवेशी की हड्डियों को बर्बाद कर दिया गया था। 1922-23 में, सभी फसली भूमि का केवल 1.9 प्रतिशत ही उन्नत बीजों के अधीन था। 1938-39 तक यह प्रतिशत केवल 11 प्रतिशत हो गया था। इसके अलावा, कृषि शिक्षा पूरी तरह से उपेक्षित थी। 1939 में 1306 छात्रों के साथ केवल छह कृषि कॉलेज थे।

बंगाल, बिहार, उड़ीसा और सिंध में एक भी कृषि महाविद्यालय नहीं था। न ही किसान स्वाध्याय के माध्यम से सुधार कर सकते थे। ग्रामीण क्षेत्रों में प्राथमिक शिक्षा या साक्षरता का शायद ही कोई प्रसार हुआ हो।

औद्योगिक क्षेत्रक

औपनिवेशिक शासन के दौरान देश की विश्व प्रतिष्ठित शिल्प कलाओं का पतन हो रहा था और उसका स्थान इंग्लैंड के तैयार वस्त्र ले रहे थे। वास्तव में भारत के औद्योगिकरण के पीछे विदेशी शासकों का दौरा उद्देश्य था।[4]

औपनिवेशिक शासकों द्वारा अपने देश इंग्लैंड के हितों के संरक्षण और संवर्धन के लिए निर्मित नीतियों ने भारत की अर्थव्यवस्था के स्वरूप को मूल रूप से बदल डाला।भारत इंग्लैंड को कच्चे माल की पूर्ति करने तथा वहांके बने तैयार माल का आयात करने वाला देश बनकर रह गया।

एक तो वह भारत को इंग्लैंड में विकसित हो रहे लोगों के लिए कच्चे माल का निर्यात निर्यातक बनाना चाहते थे दूसरा उद्योगों के उत्पादन के लिए भारत को ही एक विशाल बाजार भी बनाना चाहते थे।

उद्यमी जमशेदजी टाटा (1839-1904) ने 1877 में बॉम्बे में सेंट्रल इंडिया स्पिनिंग, वीविंग और मैन्युफैक्चरिंग कंपनी के साथ अपना औद्योगिक करियर शुरू किया। जबकि अन्य भारतीय मिलों ने ब्रिटेन से आयातित स्थानीय लघु-स्टेपल कपास और सरल मशीनरी का उपयोग करके सस्ते मोटे यार्न (और बाद में कपड़े) का उत्पादन किया, टाटा ने मिस्र से महंगे लंबे स्टेपल कपास आयात करके और संयुक्त राज्य से अधिक जटिल रिंग-स्पिंडल मशीनरी खरीदकर बेहतर प्रदर्शन किया। ब्रिटेन से आयात के साथ प्रतिस्पर्धा कर सकते हैं कि बेहतर यार्न स्पिन करने के लिए राज्यों

1860 में अहमदाबाद में पहला सूती वस्त्र मिल स्थापित पटसन उद्योग की स्थापना का श्रेय विदेशियों को दिया जा सकता है यह उद्योग केवल बंगाल प्रांत तक ही सीमित रहा टाटा आयरन एंड स्टील कंपनी की स्थापना 1960 में हुई दूसरे विश्व युद्ध के पश्चात(1939-45) चीनी सीमेंट कागज आदि के कारखाने स्थापित हुए।

पूंजीगत उद्योगों यह तत्कालिक उपभोग में काम आने वाली वस्तुओं के उत्पादन के लिए मशीनों और कल पुर्जों का निर्माण करते हैं इसके अभाव के कारण औद्योगिकरण के विकास में समय लगा ।

जीडीपी में भी इसका योगदान काफी कम रहा इसने उत्पादन की एक और महत्वपूर्ण कमी यह थी कि इसमें रेल विद्युत उत्पादन संचार बंदरगाहों जैसे सीमित सार्वजनिक क्षेत्र की आप आए जिनका कार्यक्षेत्र बहुत कम था।[5]

विदेशी व्यापार और निवेश की सरकार की वस्तु उत्पादन व्यापार और सीमा शुल्क की प्रतिबंध कारी नीतियों के कारण भारत कच्चे उत्पादों का निर्यात अब होकर रह गया।

निर्यात- रेशम कपास चीनी मील और पटसन

आयात सूती रेशमी ऊनी वस्त्रों और इंग्लैंड के कारखानों में बनी हल्की मशीनों का आयातक

आदि व्यापार लैंड तक सीमित रह से श्रीलंका और ईरान तक।

निर्यात का आकार बड़ा होने के कारण आंतरिक बाजारों में अनाज कपड़ा और मिट्टी का तेल जैसी अनेक आवश्यक वस्तुएं उपलब्ध हो पाती थी इस निर्यात का देश में सोने और चांदी के प्रवाह पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। 1869 स्वेज नहर के खुलने से भारत के व्यापार पर अंग्रेजी नियंत्रण और सख्त हो गया ।

इस नीति के अनुसार इंग्लैंड को यह अभीष्ट न था कि नए-नए आविष्कारों से लाभ उठाकर भारतवर्ष के उद्योग व्यवसाय का नवीन पद्धति से पुनः संगठन किया जाए। वह भारत को कृषि प्रधान देश ही बनाए रखना चाहता था, जिसमें भारत से उसे हर तरह का कच्चा माल मिले और उसका तैयार किया माल भारत खरीदे। जब कभी भारतीय सरकार ने देशी व्यवसाय को प्रोत्साहन देने का निश्चय किया, तब तब इंग्लैंड की सरकार ने उसके इस निश्चय का विरोध किया और उसको हर प्रकार से निरुत्साहित किया। जब भारत में कपड़े की मिलें खुलने लगीं और भारतीय सरकार को इंग्लैंड से आनेवाले कपड़े पर चुंगी लगाने की आवश्यकता हुई, तब इस चुंगी का लंकाशायर ने घोर विरोध किया और जब उन्होंने यह देखा कि हमारी वह बात मानी न जाएगी तो उन्होंने भारत सरकार को इस बात पर विवश किया कि भारतीय मिल में तैयार हुए कपड़े पर भी चुंगी लगाई जाए, जिसमें देशी मिलों के लिए प्रतिस्पर्द्धा करना संभव न हो।

पब्लिक वर्क्स विभाग खोलकर बहुत-सी सड़के भी बनाई गईं जिसका फल यह हुआ कि विदेशी माल छोटे-छोटे कस्बों तथा गांवों के बाजारों में भी पहुंचने लगा। रेल और सड़कों के निर्माण से भारत के कच्चे माल के निर्यात में वृद्धि हो गई और चीजों की कीमत में जो अंतर पाया जाता था। वह कम होने लगा। खेती पर भी इसका प्रभाव पड़ा और लोग ज्यादातर ऐसी ही फसल बोने लगे जिनका विदेश में निर्यात था। यूरोपीय व्यापारी हिंदुस्तानी मजदूरों की सहायता से हिंदुस्तान में चाय, कहवा, जूट और नील की काश्त करने लगे।

बीसवीं शताब्दी के पाँचवे दशक में भारतवर्ष में अग्रेजों की बहुत बड़ी पूँजी लगी हुई थी। पिछले पचास-साठ वर्षों में इस पूँजी में बहुत तेजी के साथ वृद्धि हुई। 634 विदेशी कंपनियां भारत में इस समय कारोबार कर रही थीं। इनकी वसूल हुई पूंजी लगभग साढ़े सात खरब रुपया थी और 5194 कंपनियां ऐसी थीं जिनकी रजिस्ट्री भारत में हुई थी और जिनकी पूंजी 3 खरब रुपया थी। इनमें से अधिकतर अंग्रेजी कंपनियां थीं। इंग्लैंड से जो विदेशों को जाता था उसका दशमांश प्रतिवर्ष भारत में आता था। वस्त्र और लोहे के व्यवसाय ही इंग्लैंड के प्रधान व्यवसाय थे और ब्रिटिश राजनीति में इनका प्रभाव सबसे अधिक था। भारत पर इंग्लैंड का अधिकार बनाए रखने में इन व्यवसायों का सबसे बड़ा स्वार्थ था; क्योंकि जो माल ये बाहर रवाना करते थे उसके लगभग पंचमांश की खपत भारतवर्ष में होती थी। भारत का जो माल विलायत जाता था उसकी कीमत भी कुछ कम नहीं थी। इंग्लैंड प्रतिवर्ष चाय, जूट, रुई, तिलहन, ऊन और चमड़ा भारत से खरीदता था। यदि केवल चाय का विचार किया जाए तो 36 करोड़ रुपया होगा। इन बातों पर विचार करने से यह स्पष्ट है कि ज्यों-ज्यों इंग्लैंड का भारत में आर्थिक लाभ बढ़ता गया त्यों-त्यों उसका राजनीतिक स्वार्थ भी बढ़ता गया।[6]

उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में एक महत्वपूर्ण विकास भारत में बड़े पैमाने पर मशीन-आधारित उद्योगों की स्थापना था। भारत में मशीन युग की शुरुआत तब हुई जब 1850 के दशक में सूती कपड़ा, जूट और कोयला-खनन उद्योग शुरू किए गए थे। बॉम्बे में पहली कपड़ा मिल की शुरुआत 1853 में कोवसजी नानभोय ने की थी, और 1855 में रिशरा (बंगाल) में पहली जूट मिल।इन उद्योगों का धीरे-धीरे लेकिन लगातार विस्तार हुआ। 1879 में भारत में लगभग 43,000 व्यक्तियों को रोजगार देने वाली 56 सूती कपड़ा मिलें थीं। 1882 में, 20 जूट मिलें थीं, जिनमें से अधिकांश बंगाल में लगभग 20,000 व्यक्ति कार्यरत थे।

1905 तक, भारत में लगभग 196,000 व्यक्तियों को रोजगार देने वाली 206 कपास मिलें थीं। 1901 में लगभग 115,000 व्यक्तियों को रोजगार देने वाली 36 से अधिक जूट मिलें थीं। 1906 में कोयला खनन उद्योग में लगभग एक लाख लोग कार्यरत थे।अन्य यांत्रिक उद्योग जो उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध के दौरान विकसित हुए और बीसवीं शताब्दी की शुरुआत में कपास के डिब्बे और प्रेस, चावल, आटा और लकड़ी की मिलें, चमड़े की टेनरियां, ऊनी वस्त्र, चीनी मिल, लोहा और इस्पात के काम और ऐसे खनिज उद्योग थे नमक, अभ्रक और नमक के रूप में।

1930 के दशक के दौरान सीमेंट, कागज, माचिस, चीनी और कांच उद्योग विकसित हुए। लेकिन इन सभी उद्योगों में बहुत वृद्धि हुई है।

अधिकांश आधुनिक भारतीय उद्योग ब्रिटिश पूंजी के स्वामित्व या नियंत्रण में थे। विदेशी पूंजीपति उच्च लाभ की संभावना से भारतीय उद्योग के प्रति आकर्षित हुए। श्रम बेहद सस्ता था; कच्चे माल आसानी से और सस्ते में उपलब्ध थे; और कई सामानों के लिए, भारत और उसके पड़ोसियों ने एक तैयार बाजार प्रदान किया। कई भारतीय उत्पादों, जैसे कि चाय, जूट और मैंगनीज के लिए, दुनिया भर में तैयार मांग थी।

दूसरी ओर, घर पर निवेश के लाभदायक अवसर कम हो रहे थे। उसी समय, औपनिवेशिक सरकार और अधिकारी सभी सहायता प्रदान करने और सभी एहसानों को दिखाने के लिए तैयार थे। विदेशी पूंजी ने कई उद्योगों में आसानी से भारतीय पूंजी को डुबो दिया।[7]

केवल सूती वस्त्र उद्योग में ही भारतीयों की शुरुआत से ही बड़ी हिस्सेदारी थी और 1930 के दशक में भारतीयों द्वारा चीनी उद्योग का विकास किया गया था। भारतीय पूंजीपति को भी ब्रिटिश प्रबंध एजेंसियों और ब्रिटिश बैंकों की शक्ति के खिलाफ शुरुआत से संघर्ष करना पड़ा।उद्यम के क्षेत्र में प्रवेश करने के लिए, भारतीय व्यापारियों को उस क्षेत्र पर हावी होने वाली ब्रिटिश प्रबंध एजेंसियों के सामने झुकना पड़ा। कई मामलों में भी भारतीय स्वामित्व वाली कंपनियों को विदेशी स्वामित्व वाली या नियंत्रित प्रबंध एजेंसियों द्वारा नियंत्रित किया गया था।भारतीयों को बैंकों से क्रेडिट प्राप्त करना भी मुश्किल था, जिनमें से अधिकांश पर ब्रिटिश फाइनेंसरों का प्रभुत्व था। जब वे ऋण प्राप्त कर सकते थे तब भी उन्हें उच्च ब्याज दर का भुगतान करना पड़ता था जबकि विदेशी बहुत आसान शर्तों पर उधार ले सकते थे।बेशक, धीरे-धीरे भारतीयों ने अपने बैंकों और बीमा कंपनियों को विकसित करना शुरू कर दिया। 1914 में, विदेशी बैंकों ने भारत में सभी बैंक जमाओं का 70 प्रतिशत से अधिक हिस्सा लिया; 1937 तक, उनकी हिस्सेदारी घटकर 57 प्रतिशत हो गई।भारत में ब्रिटिश उद्यमों ने मशीनरी और उपकरण, शिपिंग, बीमा कंपनियों, विपणन एजेंसियों, सरकारी अधिकारियों और राजनीतिक नेताओं के ब्रिटिश आपूर्तिकर्ताओं के साथ भारतीय आर्थिक जीवन में अपना प्रभावी स्थान बनाए रखने के लिए उनके निकट संबंध का लाभ उठाया। इसके अलावा, सरकार ने भारतीय पूंजी के खिलाफ विदेशी पूंजी के पक्ष में एक सचेत नीति का पालन किया।सरकार की रेलवे नीति में भी भारतीय उद्यम के साथ भेदभाव किया गया; रेलवे माल भाड़ा दरों ने घरेलू उत्पादों में व्यापार की लागत पर विदेशी आयात को प्रोत्साहित किया। आयातित वस्तुओं को वितरित करने की तुलना में भारतीय वस्तुओं को वितरित करना अधिक कठिन और महंगा था।भारतीय औद्योगिक प्रयास की एक और गंभीर कमजोरी भारी या पूंजीगत सामान उद्योगों की लगभग पूर्ण अनुपस्थिति थी, जिसके बिना उद्योगों का तेजी से और स्वतंत्र विकास नहीं हो सकता है। भारत में लोहे और इस्पात का उत्पादन करने के लिए या मशीनरी बनाने के लिए कोई बड़ा संयंत्र नहीं था।कुछ छोटे मरम्मत कार्यशालाओं ने इंजीनियरिंग उद्योगों का प्रतिनिधित्व किया और कुछ लौह और पीतल की ढलाई ने धातुकर्म उद्योगों का प्रतिनिधित्व किया। भारत में पहले स्टील का उत्पादन केवल 1913 में हुआ था। इस प्रकार भारत में इस्पात, धातु विज्ञान, मशीन, रसायन और तेल जैसे बुनियादी उद्योगों का अभाव था। भारत भी बिजली के विकास में पिछड़ गया।मशीन आधारित उद्योगों के अलावा, उन्नीसवीं सदी में इंडिगो, चाय और कॉफी जैसे वृक्षारोपण उद्योगों की वृद्धि भी देखी गई। वे स्वामित्व में लगभग विशेष रूप से यूरोपीय थे। कपड़ा निर्माण में इंडिगो का उपयोग डाई के रूप में किया जाता था। इंडिगो निर्माण भारत में अठारहवीं शताब्दी के अंत में शुरू किया गया था और बंगाल और बिहार में पनपा था।इंडिगो प्लांटर्स ने उन किसानों

पर अपने उत्पीड़न के लिए बदनामी हासिल की, जो उनके द्वारा इंडिगो की खेती के लिए मजबूर थे। इस उत्पीड़न को 1860 में अपने नाटक नील दर्पन में प्रसिद्ध बंगाली लेखक दीनबंधु मित्रा द्वारा चित्रित किया गया था। सिंथेटिक डाई के आविष्कार ने इंडिगो उद्योग को बड़ा झटका दिया और धीरे-धीरे इसमें गिरावट आई।

1850 के बाद असम, बंगाल, दक्षिण भारत और हिमाचल प्रदेश की पहाड़ियों में चाय उद्योग विकसित हुआ। विदेशी स्वामित्व वाली होने के कारण, इसे सरकार द्वारा किराया-मुक्त भूमि और अन्य सुविधाओं के अनुदान से मदद मिली। समय के साथ, चाय का उपयोग पूरे भारत में फैल गया और यह निर्यात की एक महत्वपूर्ण वस्तु भी बन गई। दक्षिण भारत में इस अवधि के दौरान कॉफी बागानों का विकास हुआ।

बागान और अन्य विदेशी स्वामित्व वाले उद्योगों का भारतीय लोगों को कोई फायदा नहीं था। उनका मुनाफा देश से बाहर चला गया। उनके वेतन बिल का एक बड़ा हिस्सा अत्यधिक भुगतान वाले विदेशी कर्मचारियों पर खर्च किया गया था। उन्होंने अपने अधिकांश उपकरण विदेश में खरीदे। उनके अधिकांश तकनीकी कर्मचारी विदेशी थे।[8]

उनके अधिकांश उत्पाद विदेशी बाजारों में बेचे गए और जो विदेशी मुद्रा अर्जित की गई वह ब्रिटेन द्वारा उपयोग की गई। इन उद्योगों से भारतीयों को जो एकमात्र फायदा हुआ, वह था अकुशल नौकरियों का निर्माण। हालांकि, इन उद्यमों में अधिकांश श्रमिक बहुत कम वेतन वाले थे, और उन्होंने बहुत लंबे समय तक बेहद कठोर परिस्थितियों में काम किया। इसके अलावा, वृक्षारोपण में निकट-दासता की स्थिति बनी रही।कुल मिलाकर, भारत में औद्योगिक प्रगति अत्यधिक धीमी और दर्दनाक थी। यह ज्यादातर उन्नीसवीं सदी में कपास और जूट उद्योगों और चाय बागानों तक ही सीमित था, और 1930 के दशक में चीनी और सीमेंट तक।1946 के उत्तरार्ध में, कपास और जूट के वस्त्र कारखानों में कार्यरत सभी श्रमिकों के 40 प्रतिशत के लिए जिम्मेदार थे। उत्पादन के साथ-साथ रोजगार के मामले में, भारत का आधुनिक औद्योगिक विकास अन्य देशों के आर्थिक विकास या आर्थिक जरूरतों वाले लोगों की तुलना में तालमेल था।वास्तव में, यह स्वदेशी हस्तशिल्प के विस्थापन के लिए भी क्षतिपूर्ति नहीं करता था; ग़रीबी और ज़मीन की अधिकता की समस्याओं पर इसका बहुत कम प्रभाव पड़ा। भारतीय औद्योगिकीकरण की व्यापकता इस तथ्य से सामने आई है कि 1951 में 357 मिलियन की आबादी में से केवल 2.3 मिलियन आधुनिक औद्योगिक उद्यमों में कार्यरत थे।इसके अलावा, शहरी और ग्रामीण हस्तशिल्प उद्योगों का क्षय और पतन 1858 के बाद भी जारी नहीं रहा। भारतीय योजना आयोग ने गणना की है कि प्रसंस्करण और विनिर्माण में लगे व्यक्तियों की संख्या 1901 में 10.3 मिलियन से गिरकर 1951 में 8.8 मिलियन हो गई, भले ही जनसंख्या में वृद्धि हुई हो करीब 40 फीसदी।सरकार ने इन पुराने स्वदेशी उद्योगों की रक्षा, पुनर्वास, पुनर्गठन और आधुनिकीकरण के लिए कोई प्रयास नहीं किया।इसके अलावा, यहां तक कि आधुनिक उद्योगों को भी सरकारी मदद के बिना और अक्सर ब्रिटिश नीति के विरोध में विकसित होना पड़ता था। ब्रिटिश निर्माताओं ने भारतीय कपड़ा और अन्य उद्योगों को अपने प्रतिद्वंद्वियों के रूप में देखा और भारत सरकार पर दबाव डाला कि वे प्रोत्साहित न करें बल्कि भारत में औद्योगिक विकास को सक्रिय रूप से हतोत्साहित करें। इस प्रकार ब्रिटिश नीति ने कृत्रिम रूप से प्रतिबंधित और भारतीय उद्योगों के विकास को धीमा कर दिया।

इसके अलावा, भारतीय उद्योग, अभी भी शैशवावस्था की अवधि में, सुरक्षा की आवश्यकता है। वे ऐसे समय में विकसित हुए जब ब्रिटेन, फ्रांस, जर्मनी और संयुक्त राज्य अमेरिका पहले से ही शक्तिशाली उद्योग स्थापित कर चुके थे और इसलिए उनका मुकाबला नहीं कर सकते थे।वास्तव में, ब्रिटेन सहित अन्य सभी देशों ने विदेशी निर्माताओं के आयात पर भारी सीमा शुल्क लगाकर अपने शिशु उद्योगों की रक्षा की थी। लेकिन भारत एक आजाद देश नहीं था।

इसकी नीतियां ब्रिटेन में और ब्रिटिश उद्योगपतियों के हितों में निर्धारित की गईं जिन्होंने अपनी कॉलोनी पर मुक्त व्यापार की नीति को मजबूर किया। उसी कारण से भारत सरकार ने नव स्थापित भारतीय उद्योगों को कोई वित्तीय या अन्य मदद देने

से इनकार कर दिया, जैसा कि उस समय यूरोप और जापान की सरकारें अपने स्वयं के शिशु उद्योगों के लिए कर रही थीं।यह तकनीकी शिक्षा के लिए भी पर्याप्त व्यवस्था नहीं करेगा जो 1951 तक अत्यंत पिछड़ा रहा और आगे औद्योगिक पिछड़ेपन में योगदान दिया। 1939 में देश में 2217 छात्रों के साथ केवल 7 इंजीनियरिंग कॉलेज थे।उदाहरण के लिए, कई भारतीय परियोजनाएं, जो जहाज, लोकोमोटिव, कारों और एयरो विमानों के निर्माण से संबंधित हैं, सरकार द्वारा किसी भी तरह की मदद देने से इनकार करने के कारण शुरू नहीं हो सकीं।आखिरकार, 1920 के दशक और 1930 के दशक में बढ़ते राष्ट्रवादी आंदोलन और भारतीय पूंजीवादी वर्ग के दबाव में, भारत सरकार को भारतीय उद्योगों को कुछ टैरिफ संरक्षण देने के लिए मजबूर होना पड़ा। लेकिन, एक बार फिर, सरकार ने भारतीय स्वामित्व वाले उद्योगों के साथ भेदभाव किया।भारतीय स्वामित्व वाले उद्योग जैसे सीमेंट, लोहा और इस्पात, और कांच को सुरक्षा से वंचित कर दिया गया था या अपर्याप्त सुरक्षा दी गई थी। दूसरी ओर, विदेशी वर्चस्व वाले उद्योगों, जैसे कि मैच उद्योग, को वे सुरक्षा दी गई जो वे चाहते थे। इसके अलावा, ब्रिटिश आयातों को 'शाही वरीयताओं' की प्रणाली के तहत विशेष विशेषाधिकार दिए गए थे, भले ही भारतीयों ने वीरतापूर्वक विरोध किया था।भारतीय औद्योगिक विकास की एक और विशेषता यह थी कि यह क्षेत्रीय रूप से बेहद लचर था। भारतीय उद्योग केवल देश के कुछ क्षेत्रों और शहरों में केंद्रित थे। देश का बड़ा हिस्सा पूरी तरह से अविकसित रह गया।इस असमान क्षेत्रीय आर्थिक विकास ने न केवल आय में व्यापक क्षेत्रीय असमानताओं को जन्म दिया, बल्कि राष्ट्रीय एकीकरण के स्तर को भी प्रभावित किया। इसने एक एकीकृत भारतीय राष्ट्र बनाने का कार्य और कठिन बना दिया।देश के सीमित औद्योगिक विकास का एक महत्वपूर्ण सामाजिक परिणाम भारतीय समाज में दो नए सामाजिक वर्गों का जन्म और विकास था - औद्योगिक पूँजीपति वर्ग और आधुनिक मज़दूर वर्ग। ये दोनों वर्ग भारतीय इतिहास में पूरी तरह से नए थे क्योंकि आधुनिक खदानें, उद्योग और परिवहन के साधन नए थे।[7,8]

भले ही इन वर्गों ने भारतीय आबादी का एक बहुत छोटा हिस्सा बनाया, लेकिन उन्होंने नई तकनीक, आर्थिक संगठन की एक नई प्रणाली, नए सामाजिक संबंधों, नए विचारों और एक नए दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व किया। उन्हें पुरानी परंपराओं, रीति-रिवाजों और जीवनशैली के बोझ से नहीं तौला गया।सबसे अधिक, उनके पास एक अखिल भारतीय दृष्टिकोण था। इसके अलावा, इन दोनों नए वर्गों को देश के औद्योगिक विकास में दिलचस्पी थी। इसलिए, उनके आर्थिक और राजनीतिक महत्व और भूमिकाएं उनकी संख्या के अनुपात से बाहर थीं।

पुराने जमींदारों की बर्बादी और नए जमींदारवाद का उदय:

ब्रिटिश शासन के पहले कुछ दशकों में बंगाल और मद्रास के अधिकांश पुराने जमींदारों के खंडहर देखे गए। ऐसा विशेष रूप से वॉरेन हेस्टिंग्स की उच्चतम बोलीदाताओं को राजस्व संग्रह के अधिकारों की नीलामी करने की नीति के साथ हुआ था। 1793 के स्थायी निपटान का भी शुरुआत में एक समान प्रभाव था।भू-राजस्व की भारीता-सरकार ने किराये के दस-ग्यारहवें हिस्से और संग्रह के कठोर कानून का दावा किया, जिसके तहत राजस्व के भुगतान में देरी के मामले में जमींदारी संपत्ति को बेरहमी से बेचा गया, पहले कुछ वर्षों तक कहर बरपाया। बंगाल के कई महान जमींदारों को पूरी तरह से बर्बाद कर दिया गया था और उन्हें अपने जमींदारी अधिकारों को बेचने के लिए मजबूर किया गया था।

1815 तक बंगाल की लगभग आधी संपत्ति पुराने ज़मींदारों से स्थानांतरित कर दी गई थी, जो गांवों में रहते थे और जिनके किरायेदारों, व्यापारियों और अन्य धनाढ्य वर्गों को, जो आमतौर पर शहरों में रहते थे और जिनके पास कुछ विचार दिखाने की परंपरा थी। कठिन परिस्थितियों के बावजूद किरायेदार के कारण अंतिम पाई को इकट्ठा करने में काफी क्रूर थे।पूरी तरह से बेईमान होने और किरायेदारों के लिए थोड़ी सहानुभूति रखने के कारण, इन नए जमींदारों ने बाद वाले को रैक-किराए पर लेना और बेदखल करना शुरू कर दिया।उत्तर मद्रास में स्थायी निपटान और उत्तर प्रदेश में अस्थायी जमींदारी बंदोबस्त स्थानीय जमींदारों पर समान रूप से कठोर थे। लेकिन ज़मींदारों की हालत में जल्द ही सुधार हो गया।जमींदारों को समय पर भूमि राजस्व का भुगतान करने में सक्षम बनाने के लिए, अधिकारियों ने किरायेदारों के पारंपरिक अधिकारों को समाप्त करके किरायेदारों पर अपनी शक्ति बढ़ा दी। जमींदारों ने अब किराए को बेहद सीमित करने के लिए धक्का दिया। नतीजतन,

वे तेजी से समृद्धि में बढ़ गए।रयोतवारी क्षेत्रों में भी जमींदार-किरायेदार संबंधों की प्रणाली धीरे-धीरे फैल गई। जैसा कि हमने ऊपर देखा है, अधिक से अधिक भूमि साहूकारों, व्यापारियों और अमीर किसानों के हाथों में चली गई, जिन्हें आमतौर पर किरायेदारों द्वारा खेती की गई जमीन मिलती थी। भारतीय पैसे वाले वर्ग जमीन खरीदने और जमींदार बनने के इच्छुक थे, इसका एक कारण उद्योग में अपनी पूंजी के निवेश के लिए प्रभावी आउटलेट्स का अभाव था।

एक और प्रक्रिया जिसके माध्यम से यह भूस्वामी प्रसार हुआ, वह आत्मघाती था। कई मालिक-खेती करने वाले और रहने वाले किराएदार, जिनके पास ज़मीन रखने का एक स्थायी अधिकार था, उन्हें ज़मीन पर भूखे किरायेदारों को ज़मीन पर पट्टे देने के लिए अधिक सुविधाजनक लगा, जो खुद खेती करने के बजाय किराए पर लेते थे। कालांतर में, जमींदारी न केवल ज़मींदारी क्षेत्रों में, बल्कि रायवाड़ी में भी कृषि संबंधों की मुख्य विशेषता बन गई।ज़मींदारवाद के प्रसार की एक उल्लेखनीय विशेषता सबइंफ़्यूडेशन या बिचौलियों की वृद्धि थी। चूँकि खेती करने वाले काश्तकार आम तौर पर असुरक्षित थे और भूमि की अधिकता के कारण किरायेदारों ने भूमि अधिग्रहण करने के लिए एक दूसरे के साथ प्रतिस्पर्धा की, भूमि का किराया बढ़ता चला गया।[6,7]

जमींदारों और नए जमींदारों को लाभदायक शर्तों पर अन्य उत्सुक व्यक्तियों को किराए पर लेने के अपने अधिकार को हासिल करना सुविधाजनक लगा। लेकिन जैसे-जैसे किराए में वृद्धि हुई, भूमि के उप-लीज़रों ने अपनी भूमि में अपने अधिकारों को वापस ले लिया। इस प्रकार एक श्रृंखला-प्रक्रिया द्वारा वास्तविक कृषक और सरकार के बीच बड़ी संख्या में किराया प्राप्त करने वाले बिचौलियों का विस्तार हुआ।बंगाल में कुछ मामलों में इनकी संख्या पचास तक पहुँच गई! असहाय खेती करने वाले काश्तकारों की दशा, जिन्हें अंततः श्रेष्ठ जमींदारों की इस भीड़ को बनाए रखने का बोझ उठाना पड़ता था, कल्पना से परे था। उनमें से कई गुलामों की तुलना में बहुत बेहतर थे।

जमींदारों और जमींदारों के उत्थान और विकास का एक अत्यंत हानिकारक परिणाम राजनीतिक भूमिका थी जो उन्होंने स्वतंत्रता के लिए भारत के संघर्ष के दौरान निभाई थी। संरक्षित राज्यों के राजकुमारों के साथ, उनमें से कई विदेशी शासकों के प्रमुख राजनीतिक समर्थक बन गए और बढ़ते राष्ट्रीय आंदोलन का विरोध किया। यह महसूस करते हुए कि वे ब्रिटिश शासन के लिए अपने अस्तित्व पर बकाया थे, उन्होंने इसे बनाए रखने और बनाए रखने के लिए कड़ी मेहनत की।

गरीबी और परिवार:

भारत में ब्रिटिश शासन की एक प्रमुख विशेषता और ब्रिटिश आर्थिक नीतियों का शुद्ध परिणाम, इसके लोगों में अत्यधिक गरीबी का प्रचलन था। जबकि इतिहासकार इस सवाल पर असहमत हैं कि भारत ब्रिटिश शासन के तहत गरीब हो रहा था या नहीं, इस बात पर कोई असहमति नहीं है कि ब्रिटिश शासन की अवधि में ज्यादातर भारतीय हमेशा भुखमरी के कगार पर रहते थे।जैसे-जैसे समय बीतता गया, उन्हें रोज़गार मिलना या जीवन यापन करना मुश्किल हो गया। ब्रिटिश आर्थिक शोषण, स्वदेशी उद्योगों का क्षय, उन्हें बदलने के लिए आधुनिक उद्योगों की विफलता, उच्च कराधान, ब्रिटेन को धन की निकासी और कृषि के ठहराव के लिए एक पिछड़ा कृषि ढांचा और जमींदारों द्वारा गरीब किसानों का शोषण, जमींदारों, राजकुमारों, साहूकारों, व्यापारियों और राज्य ने धीरे-धीरे भारतीय लोगों को अत्यधिक गरीबी में कमी की और उन्हें प्रगति से रोका। भारत की औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था निम्न आर्थिक स्तर पर स्थिर हो गई।लोगों की गरीबी ने अकाल की एक श्रृंखला में अपनी परिणति पाई, जिसने उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में भारत के सभी हिस्सों को तबाह कर दिया था। इन अकालों में से पहला पश्चिमी उत्तर प्रदेश में 1860-61 में हुआ और इसमें 2 लाख से अधिक लोगों की जान चली गई। 1865-66 में एक अकाल ने उड़ीसा, बंगाल, बिहार और मद्रास को घेर लिया और लगभग 20 लाख लोगों की जान ले ली, अकेले उड़ीसा ने 10 लाख लोगों को खो दिया।पश्चिमी उत्तर प्रदेश, बॉम्बे और पंजाब में 1868-70 के अकाल में 14 लाख से अधिक व्यक्तियों की मृत्यु हो गई। एक अन्य प्रभावित क्षेत्र राजपुताना में कई राज्यों ने अपनी आबादी का एक-चौथाई हिस्सा खो दिया।भारतीय

इतिहास में शायद सबसे खराब अकाल 1876-78 में मद्रास, मैसूर, हैदराबाद, महाराष्ट्र, पश्चिमी उत्तर प्रदेश और पंजाब में हुआ। महाराष्ट्र में 8 लाख, मद्रास में लगभग 35 लाख लोग मारे गए। मैसूर ने अपनी आबादी का लगभग 20 प्रतिशत और उत्तर प्रदेश में 12 लाख से अधिक खो दिया है।1896-97 में सूखे के कारण देश भर में अकाल पड़ा, जिसमें 9.5 करोड़ लोग प्रभावित हुए, जिनमें से लगभग 45 लाख लोगों की मृत्यु हो गई। 1899-1900 के अकाल ने जल्दी से पीछा किया और व्यापक संकट पैदा किया। अकाल राहत के प्रावधान के माध्यम से जान बचाने के आधिकारिक प्रयासों के बावजूद, 25 लाख से अधिक लोगों की मौत हो गई।

इन प्रमुख अकालों के अलावा, कई अन्य स्थानीय अकाल और बिखराव हुए। एक ब्रिटिश लेखक, विलियम डिग्बी ने गणना की है कि, 1854 से 1901 के दौरान 28,825,000 से अधिक लोग अकाल के दौरान मारे गए। 1943 में एक और अकाल ने बंगाल में लगभग 30 लाख लोगों को मौत के घाट उतार दिया। ये अकाल और उनके कारण हुए जीवन के अत्यधिक नुकसान ने संकेत दिया है कि भारत में गरीबी और भुखमरी ने किस हद तक जड़ें जमा ली हैं।भारत में कई अंग्रेजी अधिकारियों ने उन्नीसवीं शताब्दी के दौरान भारत की गरीबी की गंभीर वास्तविकता को पहचान लिया।उदाहरण के लिए, गवर्नर-जनरल काउंसिल के सदस्य, चार्ल्स इलियट ने टिप्पणी की:

"मुझे यह कहने में संकोच नहीं है कि आधी कृषि आबादी को एक वर्ष के अंत से दूसरे वर्ष तक यह पता नहीं है कि उसे पूर्ण भोजन क्या है।"

संशोधन

इम्पीरियल गजेटियर के संकलनकर्ता विलियम हंटर ने माना कि "भारत के चालीस मिलियन लोग आदतन भोजन से जीवन गुजारते हैं।" बीसवीं शताब्दी में स्थिति और भी बदतर हो गई। 1911 और 1941 के बीच 30 वर्षों में एक भारतीय को मिलने वाले भोजन की मात्रा में 29 प्रतिशत की गिरावट आई।भारत के आर्थिक पिछड़ेपन और दुर्बलता के कई अन्य संकेत थे। राष्ट्रीय आय पर एक प्रसिद्ध प्राधिकरण कॉलिन क्लार्क ने गणना की है कि 1925-34 की अवधि के दौरान, भारत और चीन में दुनिया में प्रति व्यक्ति आय सबसे कम थी। एक अंग्रेज की आमदनी पांच गुना थी।इसी तरह, 1930 के दशक के दौरान एक भारतीय की औसत जीवन प्रत्याशा आधुनिक चिकित्सा विज्ञान और स्वच्छता ने जबरदस्त प्रगति के बावजूद केवल 32 साल थी। अधिकांश पश्चिमी यूरोपीय और उत्तरी अमेरिकी देशों में, औसत आयु पहले से ही 60 वर्ष से अधिक थी।भारत का आर्थिक पिछड़ापन और गरीबी प्रकृति की उदासीनता के कारण नहीं थे। वे मानव निर्मित थे। भारत के प्राकृतिक संसाधन प्रचुर मात्रा में थे और पैदावार देने में सक्षम थे, अगर इनका समुचित उपयोग किया जाए तो लोगों को समृद्धि का एक उच्च स्तर मिलता है।लेकिन, विदेशी शासन और शोषण के परिणामस्वरूप, और एक पिछड़े कृषि और औद्योगिक आर्थिक ढांचे के रूप में - वास्तव में इसके ऐतिहासिक और सामाजिक विकास के कुल परिणाम के रूप में - भारत ने एक अमीर देश में रहने वाले गरीब लोगों के विरोधाभास को प्रस्तुत किया।भारत की गरीबी उसके भूगोल या प्राकृतिक संसाधनों की कमी या लोगों के चरित्र और क्षमताओं में कुछ 'अंतर्निहित' दोष का उत्पाद नहीं थी। न ही यह मुगल काल या पूर्व-ब्रिटिश अतीत का अवशेष था।यह मुख्य रूप से पिछली दो शताब्दियों के इतिहास का एक उत्पाद था। इससे पहले, भारत पश्चिमी यूरोप के देशों से अधिक पिछड़ा नहीं था। न ही दुनिया के देशों के बीच उस समय जीवन स्तर के मानकों में अंतर था। ठीक उसी अवधि के दौरान जब पश्चिम के देश विकसित और समृद्ध हुए, भारत आधुनिक उपनिवेशवाद के अधीन था और उसे विकसित होने से रोका गया था।आज के सभी विकसित देश लगभग पूरी तरह से उस अवधि में विकसित हुए जिस अवधि में भारत पर ब्रिटेन का शासन था, उनमें से अधिकांश 1850 के बाद ऐसा कर रहे थे। 1750 तक दुनिया के विभिन्न हिस्सों के बीच जीवन स्तर में अंतर व्यापक नहीं था। यह दिलचस्प है कि इस संबंध में, ध्यान दें कि ब्रिटेन में औद्योगिक क्रांति की शुरुआत और बंगाल की ब्रिटिश विजय की तारीखें लगभग मेल खाती हैं!मूल तथ्य यह है कि ब्रिटेन में औद्योगिक विकास और सामाजिक

और सांस्कृतिक प्रगति का उत्पादन करने वाली समान सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक प्रक्रियाओं ने भी भारत में आर्थिक अविकसितता और सामाजिक और सांस्कृतिक पिछड़ेपन का उत्पादन किया।[5,6]

इसका कारण स्पष्ट है। ब्रिटेन ने भारतीय अर्थव्यवस्था को अपनी अर्थव्यवस्था के अधीन कर लिया और अपनी जरूरतों के अनुसार भारत में बुनियादी सामाजिक प्रवृत्तियों का निर्धारण किया।इसका परिणाम भारत के कृषि और उद्योगों, जमींदारों, जमींदारों, राजकुमारों, साहूकारों, व्यापारियों, पूंजीपतियों और विदेशी सरकार और उसके अधिकारियों द्वारा शोषण और गरीबी, बीमारी और अर्ध-भुखमरी के प्रसार से था।

१८९० में मुम्बई के कल्बादेवी रोड का एक दृष्य १९०९ में भारतीय रेलवे का मानचित्र १९४५ में हुगली का दृष्य बहुत प्राचीन काल से भारतवर्ष का विदेशों से व्यापार हुआ करता था। यह व्यापार स्थल मार्ग और जल मार्ग दोनों से होता था। इन मार्गों पर एकाधिकार प्राप्त करने के लिए विविध राष्ट्रों में समय-समय पर संघर्ष हुआ करता था। जब इस्लाम का उदय हुआ और अरब, फारस मिस्र और मध्य एशिया के विविध देशों में इस्लाम का प्रसार हुआ, तब धीरे-धीरे इन मार्गों पर मुसलमानों का अधिकार हो गया और भारत का व्यापार अरब निवासियों के हाथ में चला गया। अफ्रीका के पूर्वी किनारे से लेकर चीन समुद्र तक समुद्र तट पर अरब व्यापारियों की कोठियां स्थापित हो गईं। यूरोप में भारत का जो माल जाता था वह इटली के दो नगर जिनोआ और वेनिस से जाता था। ये नगर भारतीय व्यापार से मालामाल हो गए। वे भारत का माल कुस्तुन्तुनिया की मंडी में खरीदते थे। इन नगरों की धन समृद्धि को देखकर यूरोप के अन्य राष्ट्रों को भारतीय व्यापार से लाभ उठाने की प्रबल इच्छा उत्पन्न इस इच्छा की पूर्ति में सफल न हो सके। बहुत प्राचीन काल से यूरोप के लोगों का अनुमान था कि अफ्रीका होकर भारतवर्ष तक समुद्र द्वारा पहुंचने का कोई न कोई मार्ग अवश्य है। चौदहवीं शताब्दी में यूरोप में एक नए युग का प्रारंभ हुआ। नए-नए भौगोलिक प्रदेशों की खोज आरंभ हुई। कोलम्बस ने सन् 1492 ईस्वी में अमेरिका का पता लगाया और यह प्रमाणित कर दिया कि अटलांटिक के उस पार भी भूमि है। पुर्तगाल की ओर से बहुत दिनों से भारतवर्ष के आने के मार्ग का पता लगाया जा रहा था। अंत में, अनेक वर्षों के प्रयास के अनंतर सन् 1498 ई. में वास्कोडिगामा शुभाशा अंतरीप (cape of good hope) को पार कर अफ्रीका के पूर्वी किनारे पर आया; और वहाँ से एक गुजराती नियामक को लेकर मालाबार में कालीकट पहुंचा। पुर्तगालवासियों ने धीरे-धीरे पूर्वी व्यापार को अरब के व्यापारियों से छीन लिया। इस व्यापार से पुर्तगाल की बहुत श्री-वृद्धि हुई। देखा -देखी, डच अंग्रेज और फ्रांसीसियों ने भी भारत से व्यापार करना शुरू किया।

इन विदेशी व्यापारियों में भारत के लिए आपस में प्रतिद्वंद्विता चलती थी और इनमें से हर एक का यह इरादा था कि दूसरों को हटाकर अपना अक्षुण्य अधिकार स्थापित करें। व्यापार की रक्षा तथा वृद्धि के लिए इनको यह आवश्यक प्रतीत हुआ कि अपनी राजनीतिक सत्ता कायम करें। यह संघर्ष बहुत दिनों तक चलता रहा और अंग्रेजों ने अपने प्रतिद्वंद्वियों पर विजय प्राप्त की और सन् 1763 के बाद से उनका कोई प्रबल प्रतिद्वंदी नहीं रह गया। इस बीच में अंग्रेजों ने कुछ प्रदेश भी हस्तगत कर लिए थे और बंगाल, बिहार उड़ीसा और कर्नाटक में जो नवाब राज्य करते थे वे अंग्रेजों के हाथ की कठपुतली थे। उन पर यह बात अच्छी तरह जाहिर हो गई थी कि अंग्रेजों ने कुछ प्रदेश भी हस्तगत कर लिए थे और बंगाल, बिहार उड़ीसा और कर्नाटक में जो नवाब राज्य करते थे वे अंग्रेजों के हाथ की कठपुतली थे। उन पर यह बात अच्छी तरह जाहिर हो गई थी कि अंग्रेजों का विरोध करने से पदच्युत कर दिए जाएंगे। यह विदेशी व्यापारी भारत से मसाला, मोती, जवाहरात, हाथी दांत की बनी चीजें, ढाके की मलमल और आबेरवां, मुर्शीदाबाद का रेशम, लखनऊ की छींट, अहमदाबाद के दुपट्टे, नील आदि पदार्थ ले जाया करते थे और वहां से शीशे का सामान, मखमल साटन और लोहे के औजार भारतवर्ष में बेचने के लिए लाते थे। हमें इस ऐतिहासिक तथ्य को नहीं भूलना चाहिए कि भारत में ब्रिटिश सत्ता का आरंभ एक व्यापारिक कंपनी की स्थापना से हुआ। अंग्रेजों की राजनीतिक महत्वाकांक्षा तथा चेष्टा भी इसी व्यापार की रक्षा और वृद्धि के लिए हुई थी। उन्नीसवीं शताब्दी के पहले इंग्लैंड का भारत पर बहुत कम अधिकार था और पश्चिमी सभ्यता तथा संस्थाओं का प्रभाव यहां नहीं के बराबर था।

सन् 1750 से पूर्व इंग्लैंड में औद्योगिक क्रांति भी नहीं आरंभ हुई थी। उसके पहले भारत वर्ष की तरह इंग्लैंड भी एक कृषिप्रधान देश था। उस समय इंग्लैंड को आज की तरह अपने माल के लिए विदेशों में बाजार की खोज नहीं करनी पड़ती थी। उस समय गमनागमन की सुविधाएं न होने के कारण सिर्फ हल्की-हल्की चीजें ही बाहर भेजी जा सकती थीं। भारतवर्ष से जो व्यापार उस समय विदेशों से होता था, उससे भारत को कोई आर्थिक क्षति भी नहीं थी। सन् 1765 में जब ईस्ट इंडिया कंपनी को मुगल बादशाह शाह आलम से बंगाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानी प्राप्त हुई, तब से वह इन प्रांतों में जमीन का बंदोबस्त और मालगुजारी वसूल करने लगी। इस प्रकार सबसे पहले अंग्रेजों ने यहां की मालगुजारी की प्रथा में हेर-फेर किया। इसको उस समय पत्र व्यवहार की भाषा फारसी थी। कंपनी के नौकर देशी राजाओं से फारसी में ही पत्र व्यवहार करते थे। फौजदारी अदालतों में काजी और मौलवी मुसलमानी कानून के अनुसार अपने निर्णय देते थे। दीवानी की अदालतों में धर्म शास्त्र और शहर अनुसार पंडितों और मौलवियों की सलाह से अंग्रेज कलेक्टर मुकदमों का फैसला करते थे। जब ईस्ट इंडिया कंपनी ने शिक्षा पर कुछ व्यय करने का निश्चय किया, तो उनका पहला निर्णय अरबी, फारसी और संस्कृत शिक्षा के पक्ष में ही हुआ। बनारस में संस्कृत कालेज और कलकत्ते में कलकत्ता मदरसा की स्थापना की गई। पंडितों और मौलवियों को पुरस्कार देकर प्राचीन पुस्तकों के मुद्रित कराने और नवीन पुस्तकों के लिखने का आयोजन किया गया। उस समय ईसाइयों को कंपनी के राज में अपने धर्म के प्रचार करने किया गया। उस समय ईसाइयों को कंपनी के राज में अपने धर्म के प्रचार करने की स्वतंत्रता नहीं प्राप्त थी।[4,5]

बिना कंपनी से लाइसेंस प्राप्त किए कोई अंग्रेज न भारतवर्ष में आकर बस सकता था और न जायदाद खरीद सकता था। कंपनी के अफसरों का कहना था कि यदि यहां अंग्रेजों को बसने की आम इजाजत दे दी जाएगी तो उससे विद्रोह की आशंका है; क्योंकि विदेशियों के भारतीय धर्म और रस्म-रिवाज से भली -भांति परिचित न होने के कारण इस बात का बहुत भय है कि वे भारतीयों के भावों का उचित आदर न करेंगे। देशकी पुरानी प्रथा के अनुसार कंपनी अपने राज्य के हिंदू और मुसलमान धर्म स्थानों का प्रबंध और निरीक्षण करती थी। मंदिर, मस्जिद, इमामबाड़े और खानकाह के आय-व्यय का हिसाब रखना, इमारतों की मरम्मत कराना और पूजा का प्रबंध, यह सब कंपनी के जिम्मे था। अठारहवीं शताब्दी के अंत से इंग्लैंड के पादरियों ने इस व्यवस्था का विरोध करना शुरू किया। उनका कहना था कि ईसाई होने के नाते कंपनी विधर्मियों के धर्म स्थानों का प्रबंध अपने हाथ में नहीं ले सकती। वे इस बात की भी कोशिश कर रहे थे कि ईसाई धर्म के प्रचार में कंपनी की ओर से कोई बाधा नहीं होनी चाहिए। उस समय देशी ईसाइयों की अवस्था बहुत शोचनीय थी। यदि कोई हिंदू या मुसलमान ईसाई हो जाता था तो उसका अपनी जायदाद और बीवी एवं बच्चों पर कोई हक नहीं रह जाता था। मद्रास के अहाते में देशी ईसाइयों को बड़ी-बड़ी नौकरियां नहीं मिल सकती थीं। इनको भी हिंदुओं के धार्मिक कृत्यों के लिए टैक्स देना पड़ता था। जगन्नाथ जी का रथ खींचने के लिए रथ यात्रा के अवसर पर जो लोग बेगार में पकड़े जाते थे उनमें कभी-कभी ईसाई भी होते थे। यदि वे इस बेगार से इनकार करते थे तो उनको बेंत लगाए जाते थे। इंग्लैंड के पादरियों का कहना था कि ईसाइयों को उनके धार्मिक विश्वास के प्रतिकूल किसी काम के करने के लिए विवश नहीं करना चाहिए और यदि उनके साथ कोई रियायत नहीं की जा सकती तो कम से कम उनके साथ वहीं व्यवहार होना चाहिए जो अन्य धर्माबलंबियों के साथ होता है। धीरे-धीरे इस दल का प्रभाव बढ़ने लगा और अंत में ईसाई पादरियों की मांग को बहुत कुछ अंश में पूरा करना पड़ा। उसके फलस्वरूप अपनी जायदाद से हाथ नहीं धोना पड़ेगा। ईसाइयों को धर्म प्रचार की भी स्वतंत्रता मिल गई। अब राज दरबार की भाषा अंग्रेजी हो गई और अंग्रेजी शिक्षा को प्रोत्साहन देने का निश्चय हुआ। धर्म-शास्त्र और शरह का अंग्रेजी में अनुवाद किया गया और एक 'ला कमीश' नियुक्त कर एक नया दंड़ विधान और अन्य नए कानून तैयार किए गए। सन् 1853 ई. में धर्म स्थानों का प्रबंध स्थानीय समितियां बनाकर उनके सुपुर्द कर दिया गया। सन् 1854 में अदालतों में जो थोड़े बहुत पंडित और मौलवी बच गए थे वे भी हटा दिए गए। इस प्रकार देश की पुरानी संस्थाएं नष्ट हो गईं और हिंदू और मुसलमानों की यह धारणा होने लगी कि अंग्रेज उन्हें ईसाई बनाना चाहते हैं। इन्हीं परिवर्तनों का और डलहौजी की हड़पने की नीति का यह फल हुआ कि

सन् 1857 में एक बड़ी क्रांति हुई जिसे सिपाही विद्रोह कहते हैं। सन् 1857 के पहले ही यूरोप में औद्योगिक क्रांति हो चुकी थी। इस क्रांति में इंग्लैंड सबका अगुआ था; क्योंकि उसको बहुत-सी ऐसी सुविधाएं थीं जो अन्य देशों को प्राप्त नहीं थी। इंग्लैंड ने ही वाष्प यंत्र का आविष्कार किया। भारत के व्यापार से इंग्लैंड की पूंजी बहुत बढ़ गई थी। उसके पास लोहे और कोयले की इफरात थी। कुशल कारीगरों की भी कमी न थी। इस नानाविध कारणों से इंग्लैंड इस क्रांति में अग्रणी बना। इंग्लैंड के उत्तरी हिस्से में जहां लोहा तथा कोयला निकलता था वहां कल कारखाने स्थापित होने लगे। कारखानों के पास शहर बसने लगे। इंग्लैंड के घरेलू उद्योग-धंधे नष्ट हो गए। मशीनों से बड़े पैमाने पर माल तैयार होने लगा। इस माल की खपत यूरोप के अन्य देशों में होने लगी। देखा-देखी यूरोप के अन्य देशों में भी मशीन के युग का आरंभ हुआ। ज्यों-ज्यों यूरोप के अन्य देशों में नई प्रथा के अनुसार उद्योग व्यवसाय की वृद्धि होने लगी, त्यों-त्यों इंग्लैंड को अपने माल के लिए यूरोप के बाहर बाजार तलाश करने की आवश्यकता प्रतीत होने लगी। [3,4]

भारतवर्ष इंग्लैंड के अधीन था, इसलिए राजनीतिक शक्ति के सहारे भारतवर्ष को सुगमता के साथ अंग्रेजी माल का एक अच्छा-खासा बाजार बना दिया गया। अंग्रेजी शिक्षा के कारण धीरे-धीरे लोगों की अभिरुचि बदल रही थी। यूरोपीय वेशभूषा और यूरोपीय रहन-सहन अंग्रेजी शिक्षित वर्ग को प्रलोभित करने लगा। भारत एक सभ्य देश था, इसलिए यहां अंग्रेजी माल की खपत में वह कठिनाई नहीं प्रतीत हुई जो अफ्रीका के असभ्य या अर्द्धसभ्य प्रदेशों में अनुभूत हुई थी। सबसे पहले इस नवीन नीति का प्रभाव भारत के वस्त्र व्यापार पर पड़ा। मशीन से तैयार किए हुए माल का मुकाबला करना करघों पर तैयार किए हुए माल के लिए असंभव था। धीरे-धीरे भारत की विविध कलाएं और उद्योग नष्ट होने लगे। भारत के भीतरी प्रदेशों में दूर-दूर माल पहुंचाने के लिए जगह-जगह रेल की सड़कें निकाली गईं। भारत के प्रधान बंदरगाह कलकत्ता, बंबई और मद्रास भारत के बड़े-बड़े नगरों से संबद्ध कर दिए गए विदेशी व्यापार की सुविधा की दृष्टि से डलहौजी के समय में पहली रेल की सड़कें बनी थीं। इंगलैंड को भारत के कच्चे माल की आवश्यकता थी। जो कच्चा माल इन बंदरगाहों को रवाना किया जाता था, उस पर रेल का महसूल रियायती था। आंतरिक व्यापार की वृद्धि की सर्वथा उपेक्षा की जाती थी। इस नीति के अनुसार इंग्लैंड को यह अभीष्ट न था कि नए-नए आविष्कारों से लाभ उठाकर भारतवर्ष के उद्योग व्यवसाय का नवीन पद्धति से पुनः संगठन किया जाए। वह भारत को कृषि प्रधान देश ही बनाए रखना चाहता था, जिसमें भारत से उसे हर तरह का कच्चा माल मिले और उसका तैयार किया माल भारत खरीदे। जब कभी भारतीय सरकार ने देशी व्यवसाय को प्रोत्साहन देने का निश्चय किया, तब तब इंग्लैंड की सरकार ने उसके इस निश्चय का विरोध किया और उसको हर प्रकार से निरुत्साहित किया। जब भारत में कपड़े की मिलें खुलने लगीं और भारतीय सरकार को इंग्लैंड से आनेवाले कपड़े पर चुंगी लगाने की आवश्यकता हुई, तब इस चुंगी का लंकाशायर ने घोर विरोध किया और जब उन्होंने यह देखा कि हमारी वह बात मानी न जाएगी तो उन्होंने भारत सरकार को इस बात पर विवश किया कि भारतीय मिल में तैयार हुए कपड़े पर भी चुंगी लगाई जाए, जिसमें देशी मिलों के लिए प्रतिस्पर्द्धा करना संभव न हो। पब्लिक वर्क्स विभाग खोलकर बहुत-सी सड़के भी बनाई गईं जिसका फल यह हुआ कि विदेशी माल छोटे-छोटे कस्बों तथा गांवों के बाजारों में भी पहुंचने लगा। रेल और सड़कों के निर्माण से भारत के कच्चे माल के निर्यात में वृद्धि हो गई और चीजों की कीमत में जो अंतर पाया जाता था। वह कम होने लगा। खेती पर भी इसका प्रभाव पड़ा और लोग ज्यादातर ऐसी ही फसल बोने लगे जिनका विदेश में निर्यात था। यूरोपीय व्यापारी हिंदुस्तानी मजदूरों की सहायता से हिंदुस्तान में चाय, कहवा, जूट और नील की काश्त करने लगे। बीसवीं शताब्दी के पाँचवे दशक में भारतवर्ष में अग्रेजों की बहुत बड़ी पूँजी लगी हुई थी। पिछले पचास-साठ वर्षों में इस पूँजी में बहुत तेजी के साथ वृद्धि हुई। 634 विदेशी कंपनियां भारत में इस समय कारोबार कर रही थीं। इनकी वसूल हुई पूंजी लगभग साढ़े सात खरब रुपया थी और 5194 कंपनियां ऐसी थीं जिनकी रजिस्ट्री भारत में हुई थी और जिनकी पूंजी 3 खरब रुपया थी। इनमें से अधिकतर अंग्रेजी कंपनियां थीं। इंग्लैंड से जो विदेशों को जाता था उसका दशमांश प्रतिवर्ष भारत में आता था। वस्त्र और लोहे के व्यवसाय ही इंग्लैंड के प्रधान व्यवसाय थे और ब्रिटिश राजनीति में इनका प्रभाव सबसे अधिक था। भारत पर इंग्लैंड का

अधिकार बनाए रखने में इन व्यवसायों का सबसे बड़ा स्वार्थ था; क्योंकि जो माल ये बाहर रवाना करते थे उसके लगभग पंचमांश की खपत भारतवर्ष में होती थी। भारत का जो माल विलायत जाता था उसकी कीमत भी कुछ कम नहीं थी। इंग्लैंड प्रतिवर्ष चाय, जूट, रुई, तिलहन, ऊन और चमड़ा भारत से खरीदता था। यदि केवल चाय का विचार किया जाए तो 36 करोड़ रुपया होगा। इन बातों पर विचार करने से यह स्पष्ट है कि ज्यों-ज्यों इंग्लैंड का भारत में आर्थिक लाभ बढ़ता गया त्यों-त्यों उसका राजनीतिक स्वार्थ भी बढ़ता गया। .[2,3]

दादा भाई नौरोजी

दादाभाई नौरोजी (4 सितम्बर 1825 -- 30 जून 1917) ब्रिटिशकालीन भारत के एक पारसी बुद्धिजीवी, शिक्षाशास्त्री, कपास के व्यापारी तथा आरम्भिक राजनैतिक एवं सामाजिक नेता थे। उन्हें 'भारत का वयोवृद्ध पुरुष' (Grand Old Man of India) कहा जाता है। १८९२ से १८९५ तक वे युनिटेड किंगडम के हाउस आव कॉमन्स के सदस्य (एम पी) थे। दादाभाई नौरोजी ने भारत में विश्वविद्यालयों की स्थापना के पूर्व के दिनों में एलफिंस्टन इंस्टीटयूट में शिक्षा पाई जहाँ के ये मेधावी छात्र थे। उसी संस्थान में अध्यापक के रूप में जीवन आरंभ कर आगे चलकर वहीं वे गणित के प्रोफेसर हुए, जो उन दिनों भारतीयों के लिए शैक्षणिक संस्थाओं में सर्वोच्च पद था। साथ में उन्होंने समाजसुधार कार्यों में अग्रगामी और कई धार्मिक तथा साहित्य संघटनों के, यथा "स्टूडेंट्स लिटरेरी ऐंड सांइटिफिक सोसाइटी के, प्रतिष्ठाता के रूप में अपना विशेष स्थान बनाया। उसकी दो शाखाएँ थीं, एक मराठी ज्ञानप्रसारक मंडली और दूसरी गुजराती ज्ञानप्रसारक मंडली। रहनुमाई सभी की भी स्थापना इन्होंने की थी।' "रास्त गफ्तार' नामक अपने समय के समाज सुधारकों के प्रमुख पत्र का संपादन तथा संचालन भी इन्होंने किया। पारसियों के इतिहास में अपनी दानशीलता और प्रबुद्धता के लिए प्रसिद्ध "कैमास' बंधुओं ने दादाभाई को अपने व्यापार में भागीदार बनाने के लिए आमंत्रित किया। तदनुसार दादाभाई लंदन और लिवरपूल में उनका कार्यालय स्थापित करने के लिए इंग्लैंड गए। विद्यालय के वातावरण को छोड़कर एकाएक व्यापारी धन जाना एक प्रकार की अवनति या अपवतन समझा जा सकता है, परंतु दादा भाई ने इस अवसर को इंग्लैंड में उच्च शिक्षा के लिए जानेवाले विद्यार्थियों की भलाई के लिए उपयुक्त समझा। इसके साथ ही साथ उनका दूसरा उद्देश्य सरकारी प्रशासकीय संस्थाओं का अधिक से अधिक भारतीयकरण करने के लिए आंदोलन चलाने का भी था। जो विद्यार्थी उन दिनों उनके संपर्क में आए और उनसे प्रभावित हुए उनमें सुप्रसिद्ध फीरोजशाह मेहता, मोहनदास कर्मचंद गांधी और मुहम्मद अली जिना का नाम उल्लेखनीय है। इसके अतिरिक्त दादाभाई का एक और उद्देश्य ब्रिटिश जनता को ब्रिटिश शासन से उत्पीड़ित भारतीयों के दु:खों की जानकारी कराना और उन्हें दूर करने के उनके उत्तरदायित्व की ओर ध्यान आकर्षित कराना भी था। उन दिनों भारतीय सिविल सेवाओं में सम्मिलित होने के इच्छुक अभ्यर्थियों के लिए सबसे कठिनाई की बात यह थी कि उन्हें प्रतिकूल परिस्थितियों में ब्रिटिश अभ्यर्थियों से स्पर्धा करनी पड़ती थी। इस असुविधा को दूर करने के लिए दादा भाई का सुझाव इंग्लैंड और भारत में एक साथ सिविल सर्विस परीक्षा करने का था। इसके लिए उन्होंने 1893 तक आंदोलन चलाया जब कि उन्होंने वहाँ लोकसभा (हाउस आव कामन्स) में उस सदन के एक सदस्य की हैसियत से अधिक संघर्ष किया और सभा ने भारत तथा इंग्लैंड में एक साथ परीक्षा चलाने का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। उन दिनों दूसरी उससे भी बड़ी परिवेदना भारतीयों की भयानक दरिद्रता थी। हालाँकि दादाभाई ही पहले व्यक्ति नहीं थे जिन्होंने इसके लिए दु:ख की अभिव्यक्ति की हो किंतु वे पहले व्यक्ति अवश्य थे जिन्होंने उसके उन्मूलन के लिए आंदोलन चलाया। उन्होंने तथ्यों और आँकड़ों से यह सिद्ध कर दिया कि जहाँ भारतीय दरिद्रता में आकंठ डूबे थे, वहीं भारत की प्रशासकीय सेवा दुनियाँ में सबसे महँगी थी। सरकारी आँकड़े उन दिनों नहीं के समान थे और जानकारी प्राप्त करने के लिए कोई गैर सरकारी साधन भी नहीं था। भारतीयों की आर्थिक स्थिति के संबंध में प्रारंभिक सर्वेक्षण के बाद यही निष्कर्ष निकला कि देश में एक व्यक्ति की औसत वार्षिक आय कुल बीस रुपए थी। इन्हीं सब आँकड़ों के आधार पर ईस्ट इंडिया एसोसिएशन के सामने उन्होंने "वांट्स एंड मीन्स आव इंडिया' नामक निबंध 27 जुलाई 1870 को पढ़ा। 19वीं शताब्दी के अंत तक दादाभाई ने अनेक समितियों और आयोगों के समक्ष ही नहीं वरन् ब्रिटिश

पार्लियामेंट के सामने भी भारत के प्रति की गई बुराइयों को दूर करने के लिए वकालत की और उच्चाधिकारियों को बराबर चेतावनी देते रहे कि यदि इसी प्रकार भारत की नैतिक और भौतिक रूप से अवनति होती रही तो भारतीयों को ब्रिटिश वस्तुओं का ही नहीं वरन् ब्रिटिश शासन का भी बहिष्कार करने के लिए बाध्य होना पड़ेगा, किंतु इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। [1,2]

अंत में उन्होंने भारतीयों की राजनीतिक दासता और दयनीय स्थिति की ओर विश्व लोकमत का ध्यान आकृष्ट करने के लिए महान प्रयास करने का निश्चय किया जिसका परिणाम हुआ उनकी वृहदाकार पुस्तक पावर्टी ऐंड अनब्रिटिश रूल इन इंडिया। इसमें बहुत से लेख, भाषण, निबंध और उच्चाधिकारियों से पत्रव्यवहार तथा समितियों और आयोगों के समक्ष दी गई उनकी गवाहियाँ तथा कितने ही महत्वपूर्ण अधिनियमों और घोषणाओं के उद्धरण थे। हाउस ऑफ कामन्स की सदस्यता प्राप्त करने में उनकी अद्‌भुत सफलता लक्ष्यपूर्ति के लिए एक साधन मात्र थी। उनका यह लक्ष्य या ध्येय था भारत का कल्याण और उन्नति जो संसद की सदस्यता के लिए संघर्ष करते समय भी उनके मस्तिष्क पर छाया रहता था। वे बराबर नैशनल कांग्रेस के लिए प्रचार करते रहे और भारत में अपने मित्रों को लिखे विविध पत्रों में पारसियों की राष्ट्रीय संग्राम से दूर रहने की प्रवृत्ति की निंदा करते रहे। कोई भी सप्ताह ऐसा नहीं बीतता था जिसमें उनके पास भारत से पत्र और कांग्रेस के संबंध में पत्रपत्रिकाओं की कतरनें न आती रही हों तथा उनके पत्र भारतीय मित्रों के पास न पहुँचते रहे हों। किसी ने कभी यह अपेक्षा नहीं की थी कि दादाभाई हाउस आव कामन्स में इतनी बड़ी हलचल पैदा कर देंगे किंतु उस सदन में उनकी गतिविधि और सक्रियता से ऐसा प्रतीत होता था मानो वे वहाँ की कार्यप्रणाली आदि से बहुत पहले से ही परिचित रहे हों। भारत की दरिद्रता, मुद्रा और विनिमय, अफीम या शराब के सेवन के प्रोत्साहन से उत्पन्न होनेवाले कुपरिणामों के विषय में उनके भाषण बड़े आदर और ध्यान से सुने जाते थे। अपने लंबे जीवन में दादाभाई ने देश की सेवा के लिए जो बहुत से कार्य किए उन सबका वर्णन करना स्थानाभाव के कारण यहाँ संभव नहीं है किंतु स्वशासन के लिए अखिल भारतीय कांग्रेस के कलकत्ता अधिवेशन (1906) में उनके द्वारा की गई माँग की चर्चा करना आवश्यक है। उन्होंने अपने भाषण में स्वराज्य को मुख्य स्थान दिया। अपने भाषण के दौरान में उन्होंने कहा, हम कोई कृपा की याचना नहीं कर रहे हैं, हमें तो केवल न्याय चाहिए। आरंभ से ही अपने प्रयत्नों के दौरान में मुझे इतनी असफलताएँ मिली हैं जो एक व्यक्ति को निराश ही नहीं बल्कि विद्रोही भी बना देने के लिए पर्याप्त थीं, पर मैं हताश नहीं हुआ हूँ और मुझे विश्वास है कि उस थोड़े से समय के भीतर ही, जब तक मै जीवित हूँ, सद्भावना, सचाई तथा संमान से परिपूर्ण स्वयात्त शासन की माँग को परिपूर्ण, करनेवाला संविधान भारत के लिए स्वीकार कर लिया जाएगा। उनकी यह आशा उस समय पूरी हुई जब वे सार्वजनिक जीवन से अवकाश ग्रहण कर चुके थे। पूर्व और पश्चिम में कांग्रेसी कार्यकर्ता तथा उनके मित्र भारत की नई पीढ़ी की आशाओं के अनुसार सांवैधानिक सुधारों को मूर्त रूप देने के लिए प्रस्ताव तैयार करने में व्यस्त थे। परंतु 20 अगस्त 1917 की घोषणा के दो महीने पूर्व दादाभाई की मृत्यु हो चुकी थी। इस घोषणा के द्वारा प्रशासनिक सेवाओं में अधिकाधिक भारतीय सहयोग तथा ब्रिटिश साम्राज्य के अंतर्गत क्रमश: भारत में उत्तरदायी शासन के विकास के लिए मार्ग प्रशस्त हुआ। इस प्रकार भारत के इस वयोवृद्ध नेता ने जो माँग की थी, उसकी बहुत कुछ पूर्ति का आश्वासन मिल गया। [8]

सन्दर्भ

1. सन १७५० से १९१३ के दौरान विश्व की सम्पूर्ण निर्माण (मैन्युफैक्चरिंग) में विभिन्न देशों का प्रतिशत भागीदारी की सूची पुस्तक पृष्ठ संख्या: 20-28
2. आधुनिक भारत का आर्थिक इतिहास (गूगल पुस्तक ; लेखक - धनपत पाण्डेय) पृष्ठ संख्या: 115-119
3. प्राचीन भारत का सामाजिक एवं आर्थिक इतिहास (गूगल पुस्तक ; लेखक - ओमप्रकाश प्रसाद) पृष्ठ संख्या: 506-511
4. ECONOMIC IMPACT OF BRITISH RULE ON INDIA (History for UPSC) book page no. 22-29

5. अगर हम कभी अमीर थे, तो आज गरीब क्यों? पुस्तक पृष्ठ संख्या: 701-718
6. ब्रिटिश शासन का भारतीय अर्थव्यवस्था पर प्रभाव I पुस्तक पृष्ठ संख्या 1-8
7. ब्रिटेन भारत से कितनी दौलत लूट कर ले गया? (अगस्त २०१८) पुस्तक पृष्ठ संख्या 31-40
8. ब्रिटिश अर्थव्यवस्था का राष्ट्रवादी समीक्षा I पुस्तक पृष्ठ संख्या 10-15